काव्यस्वरूप सौन्दर्य एंव चमत्कार

(सं.)
डा. महेश भारतीय

४ तथा ५ अप्रेल, १९८५ को एम. एम. एच. कालेज, गाजियाबाद में '**सौन्दर्य शास्त्र प्राचीन तथा नये आयाम**" विषय पर एक अन्तर्विद्या संगोष्ठी हुई थी जिसमें संस्कृत-विभाग के अन्तर्गत जो शोध-लेख पढ़े गये थे उनका सम्बन्ध मुख्यत: काव्य-स्वरूप, सौन्दर्य, चमत्कार तथा काव्यानन्द से था। प्रस्तुत पुस्तिका में उन्हीं लेखों का संकलन है। इन लेखों में कुछ लेख काव्य-स्वरूप को लेकर है जिनमें एक क्षेमेन्द्र के औचित्य-सम्प्रदाय को लेकर भी है, एक लेख कालिदास की कृतियों में नारी-सौन्दर्य को लेकर है एक लेख कर्त्तव्य बोध का सम्बन्ध रस-निष्पत्ति से स्थापित करता है और कुछ लेख 'चमत्कार' से सम्बन्धित हैं। इन सभी लेखों में जहाँ एक ओर सामान्य रूप से काव्य-स्वरूप या काव्य की आत्मा के ऊपर प्रकाश पड़ता है, वहीं दूसरी ओर काव्य में चमत्कार का क्या स्थान है, विशेष रूप से काव्यानन्द में चमत्कार का कितना योगदान है इस विषय का पर्याप्त विवेचन किया गया है। इस पुस्तिका के पाठक को इन लेखों में, विशेषत: चमत्कार बिषयक लेखों में, पर्याप्त मौलिक सामग्री और मौलिक दृष्टिकोण प्राप्त होगा।

प्रकाशक :

शरद बुक एजेंन्सी

के. बी. 94, कविनगर, गाजियाबाद, उ०प्र०

मुख्य वितरक :

इण्डोविजन प्रा० लि०

IIA 220, नेहरू नगर, गाजियाबाद

मूल्य ४० रु०

एच. व

प्राचीन

अन्तर्वि

के अन्त

मुख्यतः

काव्यान

का संक

को लेः

सम्प्रदाय

कृतियों

कर्त्तव्य

करता है

हैं। इन

काव्य-स्व

पड़ता है

क्या स्था

का कित

किया गय

में, विशेष

मौलिक

प्रकाशक

शा

के.

मुख्य वि

इण

IIA

काव्यस्वरूप, सौन्दर्य एवं चमत्कार

काव्यस्वरूप, सौन्दर्य एवं चमत्कार

सम्पादक
डा० महेश भारतीय
रीडर-अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
एम० एम० एच० कालिज, गाजियाबाद

शरद् बुक एजेन्सी
एफ़/डी–१४, नया कविनगर, गाजियाबाद—२०१००२

काव्यस्वरूप सौन्दर्य एवं चमत्कार

सम्पादक— डा० महेश भारतीय

Kāvya-svarūpa, Saundarya Evam Camatkāra
Ed. by Dr. Mahesh Bhartiya

प्रथम संस्करण १९८७

मूल्य—पुस्तकालय संस्करण ४० रु०
पेपर बैक २५ रु०

प्रकाशक—शरद् बुक एजेन्सी, एफ़/डी–१४, नया कविनगर, गाजियाबाद-२०१००२
मुद्रक—तथागत प्रिंटिंग प्रेस, तेजाब मिल, जी० टी० रोड, गाजियाबाद

प्राक्कथन

४ तथा ५ अप्रेल, १९८५ को एम-एम-एच० कालेज, गाजियाबाद में "सौन्दर्यशास्त्र प्राचीन तथा नये आयाम" विषय पर एक अन्तर्विद्या सगोष्ठी हुई थी जिसमें संस्कृत-विभाग के अन्तर्गत जो शोध-लेख पढ़े गये थे उनका सम्बन्ध मुख्यत: काव्य-स्वरूप, सौन्दर्य, चमत्कार तथा काव्यानन्द से था। प्रस्तुत पुस्तिका में उन्हीं लेखों का संकलन है। इन लेखों में कुछ लेख काव्य-स्वरूप को लेकर हैं जिनमें एक क्षेमेन्द्र के औचित्य-सम्प्रदाय को लेकर भी है, एक लेख कालिदास की कृतियों में नारी-सौन्दर्य को लेकर है, एक लेख कर्त्तव्य-वोध का सम्बन्ध रस-निष्पत्ति से स्थापित करता है और कुछ लेख 'चमत्कार' से सम्वन्धित हैं। इन सभी लेखों में जहाँ एक ओर सामान्य रूप से काव्य-स्वरूप या काव्य की आत्मा के ऊपर प्रकाश पड़ता है, वहीं दूसरी ओर काव्य में चमत्कार का क्या स्थान है, विशेष रूप से काव्यानन्द में चमत्कार का कितना योगदान है, इस विषय का पर्याप्त विवेचन किया गया है। इस पुस्तिका के पाठक को इन लेखों में, विशेषत: चमत्कार विषयक लेखों में, पर्याप्त मौलिक सामग्री और मौलिक दृष्टिकोण प्राप्त होगा।

संगोष्ठी के आयोजन को सफल बनाने में कालेज के तत्कालीन प्राचार्य डा० जे० सी० राय ने अथक परिश्रम किया था, उनके प्रति मैं नतमस्त हूँ। वर्तमान प्राचार्य डा० बी० वी० सिंह ने इन लेखों के प्रकाशन में प्रेरणा-स्रोत का कार्य किया है और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की कोहस्सिप योजना के अन्तर्गत आर्थिक सहायता भी प्रदान की है। उनका मैं कृतज्ञ हूँ। शरद् बुक एजेंसी ने इसके प्रकाशन के भार को संभाला—उसके प्रति अनुगृहीत हूँ। उन सब लेखकों के प्रति भी मैं अनुगृहीत हूँ जिनके लेख इसमें प्रकाशित हुए हैं।

महेश भारतीय

विषय-सूची

काव्य का स्वरूप

डॉ० (कु०) सुषमा

'कवेरिदं काव्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कवि की रचना ही काव्य है, यह स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि कवि शब्द का अभिप्रेत अर्थ क्या है ?

अलंकारशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने 'नित नवीनतम भावों के उन्मेष में सफल, प्रतिभा सम्पन्न-तथा उस प्रतिभा से वर्णन करने में निपुण व्यक्ति' को कवि कहा है।[1] इसी प्रकार मम्मटादि काव्यशास्त्र के अन्य आचार्यों ने भी लोकोत्तर वर्णना में निपुण व्यक्ति को कवि और उसके कर्म को काव्य मानकर भामह की ही मान्यता को स्वीकार किया है।[2] उपर्युक्त मान्यता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कवि वह है जो सृष्टि के सौंदर्य का साक्षात्कार कर उसके सम्पूर्ण चमत्कारपूर्ण वर्णन में सक्षम हो और उसका वह चमत्कारपूर्ण वर्णन ही कवि-कर्म होने से काव्य अभिहित किया जाता है।

अलंकारशास्त्र के प्रायः सभी ग्रन्थों में काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ न कुछ संकेत अवश्य प्राप्त होता है। अतः अब हम विविध प्राचीन आलंकारिकों की दृष्टि में काव्य का क्या स्वरूप है, की चर्चा करेंगे।

नाट्यशास्त्र-प्रणेता भरत मुनि के अनुसार काव्य मृदु और मनोहर पदों से युक्त, गूढशब्दार्थ-रहित, सुबोध, युक्ति-युक्त, नृत्य में उपयोग करने योग्य, रस-स्रोतों को प्रवाहित करने वाला और संधि-संधान से युक्त हुआ करता है।[3]

प्रस्तुत काव्य-लक्षण में काव्य के सात विशेषण हैं। प्रथम और द्वितीय विशेषण में काव्योपयोगी शब्दार्थ का ग्रहण है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय विशेषणों में माधुर्य और प्रसाद आदि गुणों का ग्रहण है, इसके साथ ही द्वितीय विशेषण में दोषों से रहित होना भी संकेतित है। चतुर्थ विशेषण में अलंकार योजना की ओर संकेत है। षष्ठ विशेषण में काव्य का रसयुक्त होना बताया गया है। पंचम और सप्तम विशेषणों में दृश्य काव्योपयोगी विषयों की ओर संकेत किया गया है।

भरतमुनि कृत काव्य-लक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता कि उनकी दृष्टि में काव्य वह शब्दार्थ-समूह है जो दोषरहित होकर अलंकार, गुण और रस

---

१. प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता । तदनुप्राणनाज्जीवद् वणना-निपुणः कविः। —**काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १.१.१. कामधेनु** टीका में भामह नाम से उद्धृत।

२. ......काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म। —**काव्यप्रकाश वृत्तिः**, प्रथम उल्लास, पृ० ६

३. मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं, जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्यभोज्यम्।
वहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं, संभवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ।।
—**नाटयशास्त्र** १६।११८

युक्त हो तथा अभिनय के प्रसंग में अभिनय का अंग बन सके ।

भरतमुनि के अनन्तर अलंकारशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने काव्य-लक्षण देते हुए लिखा है—शब्दार्थ-साहित्य ही काव्य है ।[1] शब्दार्थ-साहित्य से उनका तात्पर्य उक्तिवैचित्र्यपूर्ण रचना से है । उसकी सत्ता में ही काव्य गुण, अलंकार आदि विभिन्न तत्त्वों से सुशोभित हो पाता है ।[2] लक्षण से भिन्न अन्य स्थल पर उन्होंने कहा है कि दोषयुक्त एक पद का भी प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए ।[3] इसी प्रकार एक अन्य वाक्य में उनका कथन है कि स्त्री का सुंदर मुख भी भूषणरहित होने पर सुशोभित नहीं होता ।[4] इसी प्रकार काव्य भी अलंकारों के बिना शोभित नहीं होता । इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा है कि काव्य को लौकिक स्वाभाविकता और रस—इन दोनों से भी युक्त होना चाहिए ।[5]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भामहाचार्य के अनुसार काव्य शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप है, इसमें दोषों का पूर्णतः अभाव होना चाहिए । इसमें अलंकारों का होना अत्यन्त आवश्यक है । इन सबके अतिरिक्त काव्य को स्वाभाविकता और रस से युक्त होना चाहिए । भामह ने अपने काव्य-लक्षण में निर्दोष पदों के प्रयोग पर बल देकर शब्द और अर्थ आश्रित बहिरंग दोषों तथा **'युक्तं लोकस्वभावेन'** अर्थात् स्वाभाविकता से युक्त कहते हुए रस-दोषों से भी बचने का संकेत किया है ।

आचार्य दण्डी ने भामहकृत काव्य-लक्षण में परिष्कार करते हुए काव्य को दो खण्डों में विभाजित किया है— १. काव्य-शरीर और २. आत्मा । उनके काव्य-लक्षण के अनुसार 'इष्टार्थ से सम्पन्न पदावली काव्य का शरीर है' ।[6] भामह के समान इन्होंने भी उस पदावली को पूर्णतः निर्दोष होना अनिवार्य माना है । उनका कथन है कि काव्य में दोष की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए । क्योंकि जैसे श्वेत कुष्ट के एक दाग से ही सुन्दर शरीर भी कुरूप हो जाता है, उसी प्रकार एक दोष के स्पर्श से भी काव्य अग्राह्य हो जाता है ।[7] आत्मा के सम्बन्ध में आचार्य दण्डी ने स्पष्टतः कुछ नहीं कहा है, किन्तु उनके ग्रन्थ **काव्यादर्श** में किये

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् । **भामह काव्यालंकार** १।१६

२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
   यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना । **वही**, २।८५

३. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् । **वही**, १.११

४. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् । **वही**, १.१३

५. युक्तं लोकस्वभावेन दोषैश्च सकलैः पृथक् । **वही**, १.२१

६. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली । —**काव्यादर्श** १।१०

७. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कदाचन ।
   स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥ **वही**, १।७

गये अलंकारों के विशिष्ट विवेचन को देखते हुए अनुमान लगाया जा सकता है कि वे अलंकार को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं। एक स्थल पर उन्होंने काव्य-शरीर को दोष से बचाते हुए अलंकारों द्वारा अर्थ में रसनिषेक भी स्वीकार किया है।[1]

इस प्रकार दण्डी के अनुसार काव्य वह पदावली है जो दोषों से पूर्णतः रहित, अलंकारों से युक्त अतएव सरस अभिप्रेत अर्थ को प्रकट करे।

दण्डी के काव्यलक्षण में रस के लिये साधक होने से अलंकारों को उपादेय स्वीकार किया गया है और दोषों को इष्टार्थ-प्रतीति में बाधक होने के कारण पूर्णतः त्याज्य स्वीकार किया गया है।

भारतीय संस्कृति के अनन्त भण्डार पुराणों में से अन्यतम **अग्निपुराण** के अनुसार 'गुणयुक्त, दोषों से रहित, स्फुरित होते हुए अलंकारों से युक्त, इष्टार्थ-सम्पन्न पदों वाला संक्षिप्त वाक्य काव्य कहलाता है'।[2]

अग्निपुराणकारकृत प्रस्तुत काव्य-लक्षण में दण्डी के काव्य-लक्षण से पूर्ण समानता है। दण्डी के काव्य-लक्षण में जिसे पदावली कहा गया है, यहाँ उसे ही संक्षिप्त वाक्य कहा गया है। दण्डी के समान ही इनके अनुसार काव्य को गुण और अलंकारों से युक्त, दोषों से मुक्त तथा इष्टार्थ (सरस अर्थ) से सम्पन्न होना चाहिए।

रीति-सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य वामन के अनुसार गुण और अलंकारों से संस्कृत शब्दार्थ को काव्य कहते हैं।[3] वह काव्य अलंकारों से अलंकृत होकर ग्राह्य होता है।[4] सौन्दर्य ही अलंकार है और काव्य में यह सौन्दर्य तभी सम्भव हो पाता है जब दोषों का त्याग, गुण और अलंकारों का ग्रहण किया जाय।[5] आत्मा के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश वामन से पूर्व किसी ने नहीं किया था। उनका कथन है कि रीति काव्य की आत्मा है।[6]

---

१. (क) कामं सर्वोऽप्यलकारो रसमर्थे निषिञ्चति ॥ **वही,** १।६२
   (ख) तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः। **वही,** १।१०
२. संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
   काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥ **अग्निपुराण** ३३७।२-३
३. काव्यशब्दोऽयं गुणालकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। **काव्यालंकारसूत्रवृत्ति,** १।१।३
४. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। **वही,** १.१.१
५. सौंदर्यमलंकारः, स खलु दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्। **वही,** १।१।२
६. (क) रीतिरात्माकाव्यस्य। **वही,** १।२।६ पृ० १४
   (ख) रीतिर्नामियमात्माकाव्यस्य। शरीरस्येवेति वाक्यशेषः। **वही,** १।२।६ पृ० १४

इस प्रकार वामन की दृष्टि में काव्य वह शब्दार्थ-समूह है जो गुणालंकार-संस्कृत है तथा गुणों से विपरीत स्वरूप वाले दोषों से रहित है। काव्य-शरीर में आत्मा के समान वैदर्भी, गौडीया और पांचाली नामक रीतियाँ विद्यमान रहती हैं। ये रीतियाँ और कुछ नहीं केवल गुणों की समग्रता या न्यूनाधिकता हैं।[1]

वामन के अनन्तर अलंकारशास्त्र के इतिहास में रुद्रट का उदय होता है। रुद्रट ने भामहकृत काव्यलक्षण का अनुकरण करते हुए शब्द और अर्थ को काव्य माना है।[2] यद्यपि इन्होंने काव्य के अनिवार्य तत्त्वों के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट नहीं लिखा है, तथापि इनके **काव्यालंकार** ग्रन्थ में किये गये विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनके अनुसार अलंकार और रस से युक्त तथा दोषों से रहित शब्दार्थ ही काव्य है। रस की सत्ता की अनिवार्यता के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट कथन है कि रस के बिना रचना विरस हो जाती है।[3]

इस प्रकार रुद्रट की दृष्टि में दोष से रहित, अलंकारों से भूषित तथा सरस शब्दार्थ ही काव्य है।

आचार्य रुद्रट के साथ ही काव्य में अलंकारों की प्रधानता का युग समाप्त हो जाता है। रुद्रट के परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते ही एक नये युग का प्रारम्भ होता है। इन्होंने काव्य के पूर्व-स्वीकृत तत्त्वों को अंग रूप में स्वीकार करते हुए प्रधान रूप से ध्वनिवाद की स्थापना की और ध्वनि को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया। उनके अनुसार सहृदय-हृदय को आह्लादित करने वाली शब्दार्थमय रचना ही काव्य है।[4] इस प्रकार वे शब्दार्थ-युगल को ही काव्य स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जहाँ शब्द और अर्थ क्रमशः अपने अर्थ और स्वरूप को गौण बनाकर अन्य अर्थ को प्रकट करते हैं, उस काव्य-विशेष को ध्वनि कहते हैं।[5] यह ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।[6]

आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती सभी आचार्यों ने काव्य के शरीर का ही लक्षण किया था किन्तु इन्होंने आत्मा का साक्षात्कार कर एक नवीन रहस्य का उद्घाटन कर दिया। यहाँ स्मरणीय है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वनिवाद को

---

१. विशिष्टा पदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा, सा च त्रिधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली च। —**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** १।२।७—९

२. ननु शब्दार्थौ काव्यम्। —रुद्रट, **काव्यालंकार** २।१

३. (क) तस्मात्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्। वही, १२।२
(ख) द्रष्टव्य १४।३८, १५।२१

४. सहृदय-हृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। **ध्वन्यालोक** पृ० २२१।१

५. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरितिसूरिभिः कथितः॥ **ध्वन्यालोक** १।१४

६. काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ **ध्वन्यालोक** १।५

काव्यलक्षण के रूप में कभी व्यवहृत नहीं किया। पूर्वाचार्यों द्वारा स्थापित सभी लक्षणों का समन्वय करने का प्रयत्न करते हुए उन्होंने सहृदय-हृदय-आह्लाद शब्दार्थ को काव्य का स्वरूप माना है। उन्होंने काव्य-शरीर को अधिक महत्त्व नहीं दिया है।

वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक के अनुसार 'काव्य और कुछ नहीं केवल कवि का कर्म है'।[1] कवि कर्म का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है कि जो अलंकार-सहित, अवयव-रहित समस्त शब्दार्थ समुदाय है, वही कवि-कर्म अर्थात् काव्य है।[2] इसे ही और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि काव्यमर्मज्ञों को आराम देने वाली वक्र-कवि-व्यापारयुक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।[3]

काव्य के उपर्युक्त स्वरूप में विशिष्ट शब्द और अर्थ का ग्रहण प्रकारान्तर से दोषरहित और गुणयुक्त शब्दार्थ की ओर तथा वक्र-कवि-व्यापार शब्द प्रकारान्तर से अलंकार की ओर संकेत करता है। इस प्रकार कुन्तक के काव्य-लक्षण में भी पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य गुणालंकार से विशिष्ट तथा दोषरहित शब्दार्थ को ही प्रकारान्तर से काव्य स्वीकार किया गया है। काव्य-लक्षण में दोषाभाव का स्पष्ट कथन न होने पर भी विशिष्ट शब्द और अर्थ का प्रयोग ही दोषराहित्य का सूचक हो जाता है।

आचार्य महिमभट्ट ने अव्यभिचरित रूप से विभावादिसंयोजनात्मक रसादि के अभिव्यंजक कवि व्यापार[4] को तथा अन्यत्र रसात्मक वाक्य को काव्य[5] स्वीकार किया है। उन्होंने काव्यार्थ सम्बन्धी मान्यताओं में आचार्य आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए स्पष्ट कहा है कि गुण और अलंकारों से संस्कृत शब्दार्थ-शरीर काव्य हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि रसात्मकता के अभाव में उस रचना-विशेष को मुख्य रूप से काव्य नहीं कहा जा सकता।[6] रसात्मकता ही काव्यत्व का हेतु

---

१. कवेः कर्म काव्यम्। वक्रोक्तिजीवित १।२

२. (क) ......तत्त्व सालंकारस्य काव्यता। वही, १।६

(ख) अयमत्र परमार्थः सालंकारस्यालंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कवि कर्मत्वमिति स्थितिः। वही, १।६

३. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धेव्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ वही, १।७

४. कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्ति अव्यभिचारिकाव्यमुच्यते। व्यक्तिविवेक, पृ० ९६ (चौखम्बा संस्करण)

५. रसात्मकं च वाक्यं काव्यम्। वही, पृ० १२६

६. (क) न गुणालंकारसंस्कृतशब्दार्थमात्रं शरीरं तावत् काव्यम्......तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात्। वही, पृ० १०३

(ख) काव्यारम्भस्य साफल्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनभावेनास्य रसात्मकत्वमवश्यमनुगन्तव्यम्। वही, पृ० १०२

है।[1] इसीलिये कविगण रसादि की व्यञ्जना में कारणभूत विभावादि की योजना में ही प्रवृत्त हैं, अन्यथा नहीं।[2]

इस प्रकार आचार्य महिमभट्ट ने काव्य उसी रचना को माना है जहाँ वाच्यार्थ की योजना प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिये की गई हो। प्रतीयमान अर्थ काव्य में सौन्दर्य का आधान करता है। इसके अभाव में गुणों से भूषित और अलंकारों से अलंकृत रचना भी काव्य कहलाने की अधिकारी नहीं हो पाती, कभी-कभी गौण रूप से उसे काव्य कह दिया जाता है। यद्यपि महिमभट्ट ने काव्यशरीर के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, किन्तु आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित ध्वनि को ही प्रच्छन्न रूप से स्वीकार करते हुए उन्होंने काव्यानुमिति को काव्य की आत्मा का पद प्रदान किया है, ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि ध्वनि और अनुमेय के सम्बन्ध में नाम के विरोध के अतिरिक्त अन्य सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अविरोध होने के कारण ही वे ध्वनि के समान अनुमेय के वस्तुमात्र, अलंकार और रस आदि भेद करते हैं।[3]

सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता धाराधिपति भोज ने अपने ग्रन्थ में काव्य-शास्त्र के विविध अंगों का विवेचन करते हुए भी काव्य-लक्षण के विषय में स्पष्ट-तया कुछ नहीं लिखा है, किन्तु काव्य-प्रयोजन लिखने के प्रसंग में काव्य का स्वरूप चित्रित कर दिया है। उनके अनुसार दोष-रहित-गुणयुक्त, अलंकारों से अलंकृत तथा रसयुक्त काव्य का निर्माण करता हुआ कवि प्रीति और कीर्ति दोनों ही प्राप्त करता है।[4]

भोजकृत उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि वे शब्दार्थयुगल को काव्य मानते हैं, क्योंकि शब्दमात्र को काव्य मानने पर 'रसान्वित' (सरस) विशेष संगत नहीं हो सकता। 'अलंकारैः' इस बहुवचन से शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्था-लंकार तीनों ही विवक्षित प्रतीत होते हैं।

आचार्य मम्मट ने दोषरहित, गुणयुक्त और स्फुट अलंकारयुक्त सरस रचना को काव्य का लक्षण (स्वरूप) वर्णन करने की अब तक की प्रचलित परम्परा में क्रांतिकारी कदम उठाया। उनका कथन है काव्य वह शब्दार्थयुगल है जो दोषरहित

१. रसात्मकं च काव्यमिति। वही, पृ० १४२
२. विभावाद्युपनिबन्ध एव हि कविव्यापारो नापरः। ते च यथा—शास्त्रमुपनिबध्य-माना रसाभिव्यक्तेर्निबन्धनभावं भजन्ते, नान्यथा। वही, पृ० १४२
३. (क) अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च······तत एव तदनुमिताद्वालिंगभूताद्य-र्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। व्यक्तिविवेक पृ० ३९
(ख) स च त्रिविधः वस्तुमात्रं अलंकाराः रसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवेति। वही, पृ० ३९
४. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति। सरस्वतीकण्ठाभरण, १।२

हो, गुण-सहित ही और यथास्थान अनलंकृत भी हो तो कोई क्षति नहीं।[1] उन्होंने अपने काव्य-लक्षण में शब्द और अर्थ में दोषों का अभाव तथा गुणों की सत्ता की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए अलंकारों की सत्ता को स्फुट अथवा अस्फुट दोनों स्थितियों में मान्यता प्रदान की है। अलंकारों के सम्बन्ध मे उनका स्पष्ट कथन है कि काव्य में प्रायः अलंकार रहते हैं, किन्तु यदि कहीं स्फुट रूप में अलंकार न हों, तो भी काव्यत्वहानि की सम्भावना नहीं होती।[2]

इस प्रकार मम्मट के अनुसार दोषरहित, गुण एवं अलंकारों से युक्त शब्द और अर्थ की समष्टि काव्य है, किन्तु कभी-कभी अलंकारों के (स्फुट) अभाव में भी शब्दार्थ समष्टि को काव्य अभिहित किया जा सकता है। आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण में यद्यपि रस की कोई चर्चा नहीं की गई है, तथापि उनके अनुसार काव्य में उसका सर्वोच्च स्थान है, क्योंकि उन्होने काव्य-लक्षण में 'सगुण' पद का समावेश करके काव्य में गुण के धर्मी रस की सत्ता को अनिवार्य रूप से स्वीकार कर लिया है।[3] जैसा कि **काव्यप्रकाश** के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने लिखा है कि गुण के रसनिष्ठ होने से यहाँ गुणपद रस का व्यञ्जक है।[4]

परवर्ती आचार्यों में हेमचन्द्र,[5] विद्यानाथ,[6] वाग्भट प्रथम[7] तथा वाग्भट द्वितीय[8] ने अपने काव्यलक्षण में पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा स्वीकृत काव्य-तत्त्वों का समावेश करके उनका अविकल रूप से अनुसरण किया है।

चन्द्रालोक-प्रणेता पीयूषवर्षी जयदेव ने दोषरहित, लक्षणवती, रीति, गुण, अलंकार से सुभूषित, रस तथा अनेक वृत्तियों से युक्त वाणी को काव्य कहा है।[9] यद्यपि जयदेव ने शब्दतः वाणी (शब्द) को ही काव्य कहा है, किन्तु रस, गुण और अर्थालंकारों की सत्ता शब्द में सम्भव नहीं है, अतः यह स्वीकार किया जा सकता

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। **काव्यप्रकाश** १।४

२. क्वचित् स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। **वही, वृत्ति** १।४

३. ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादयः इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो: गुणाः ॥ **काव्यप्रकाश** ८।६६

४. गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यंजकपरं गुणपदम्। पृ० १०

५. अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्। —**काव्यानुशासन, अध्याय** १ पृ० १६

६. गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्। —**प्रतापरुद्रयशोभूषण**

७. साधुशब्दार्थ संदर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥ **वाग्भटालंकार** १।२

८. शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्। **वाग्भटद्वितीयः काव्यानुशासनम्**, पृ० १४

९. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुणभूषिता।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् ॥ **चन्द्रालोक** १।७

है कि जयदेव को शब्दार्थयुगल ही काव्य के रूप में अभिप्रेत है और वह दोष-रहित आदि तत्त्वों से युक्त होना चाहिए।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने प्राचीन आचार्यों की परम्परा से प्राप्त काव्य-लक्षणों का अनुसरण न करके नवीन काव्य-लक्षण की रचना की, जो अत्यन्त संक्षिप्त हो हुए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है।[1] इस काव्य-लक्षण में रस पद केवल शृंगार आदि का वाचक न होकर रस, भाव, रसाभास आदि सभी का बोधक है। रस-रहित, अलंकार आदि से युक्त वाक्य को काव्य मानने के लिये विश्वनाथ प्रस्तुत नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि कभी-कभी गुणों के व्यञ्जक वर्णों अथवा अलंकारों के होने पर रसादि-रहित रचना को भी गौण रूप से काव्य नाम से व्यवहृत कर लिया जाता है।[2] काव्यत्व की दृष्टि से दोष का क्या स्थान है, इस सम्बन्ध में विश्वनाथ के काव्य-लक्षण से कुछ ज्ञात नहीं होता। किन्तु मम्मटकृत काव्य-लक्षण की आलोचना करते हुए लक्षण-गत 'अदोषौ' पद के प्रयोग पर जो आक्षेप किया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि विश्वनाथ को दोष की सत्ता में भी काव्यत्व मान्य है।[3]

विश्वनाथ के अनन्तर साहित्यशास्त्र के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने **रसगंगाधर** में रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य स्वीकार किया है।[4] उनको शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहना स्वीकार नहीं है और न काव्य-लक्षण में दोषरहित एवं गुण तथा अलंकार आदि का प्रयोग किया जाना अभिमत है। वे केवल रस को ही सारी रमणीयता का मूल कारण नहीं मानते, अपितु उनके अनुसार जिस किसी शब्द से न्यूनाधिक मात्रा में अलौकिक आनन्द उपलब्ध हो,

---

१. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। **साहित्यदर्पण** १।३

२. यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोषाभावादलंकारसद्भावाच्च काव्य-व्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद् गौण एव। —**साहित्यदर्पण**, प्र० परिच्छेद, पृ० १६

३. कश्चिदाह तददोषौ······तच्चिन्त्यम्। तथाहि···यदि दोष-रहितस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारस्तदा—'न्यवकारो ह्यमेव मे इत्यादि अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोष-दुष्टतया काव्यत्वं न स्यात्। प्रत्युत ध्वनित्वेन समकाव्यताङ्गीकृता, तस्मादव्याप्तिर्लक्षणदोषः·········। उक्तञ्च —
कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः। इति। —वही, प्रथम परिच्छेद, पृ० ६–१० (साहित्यभण्डार संस्करण)

४. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। **रसगंगाधर** १।१ (पृ० ६, चौखम्बा संस्करण)

वही काव्य-शब्द का अभिधेय हो सकता है।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार लोकोत्तर (अलौकिक) आनन्द जिस अर्थ के ज्ञान से होता है, उस अर्थ को रमणीय अर्थ कहा जाता है।[2] पण्डितराज ने उसे उत्तमोत्तम काव्य की संज्ञा दी है, जहाँ रस साक्षात् अथवा वस्तुमात्र अथवा अलंकार की व्यञ्जना द्वारा प्रधानतया व्यंग्य होता है।[3] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोकोत्तर आह्लाद से उनका तात्पर्य प्रधानतः रस से ही है, यद्यपि वे वस्तु-अलंकार-प्रधान रचना को अथवा चमत्कारपूर्ण वाच्यार्थ-प्रधान रचना को अथवा वाच्यार्थ-चमत्कार-युक्त शब्द-चमत्कार-प्रधान रचना को भी काव्य मानते हैं।[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि पण्डितराज चमत्कारपूर्ण शब्द-रचना को ही काव्य स्वीकार करते हैं। अतः उसमें चमत्कार उत्पन्न करने वाले गुण, अलंकार आदि का प्रयोग और चमत्कार में साक्षात् या परम्परया व्याघात करने वाले तत्त्वों—दोषों—का त्याग स्वतः विवक्षित हो जाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनन्तर कोई ऐसा विशिष्ट प्रतिभाशाली आचार्य नहीं हुआ, जो किसी नवीन काव्यलक्षण की स्थापना में प्रयत्नशील होता।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत-काव्य-शास्त्र में काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नलिखिय परम्पराएँ प्रचलित रही हैं—

काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रथम परम्परा अग्निपुराणकार की है जिसमें दोषरहित, गुण और अलंकारयुक्त वाक्य को काव्य कहा गया है। वाग्भट (प्रथम), जयदेव आदि इसी परम्परा के पोषक माने जा सकते हैं।

इस सम्बन्ध में दूसरी परम्परा आचार्य दण्डी की है, जिसमें इष्टार्थ से युक्त पदावली को काव्य की संज्ञा दी गई है। 'कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति'[5]

---

१. इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थ-विषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतयाऽवच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनकताऽव-च्चेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्वमेव वा काव्यत्वं इति फलितम्। वही, प्रथमाननम्, पृ० ११

२. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। वही, पृ० १०

३. शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानं कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदायम्। वही, पृ० ३३

४. (क) यत्तु साहित्यदर्पणे निर्णीतं 'रसवदेवकाव्यम्, तन्न, वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तेः महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावात्। रसगंगाधर, पृ० २३-२४

(ख) यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारसमानाधिकरणेन वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्। —वही, पृ० ७८

(ग) यत्रार्थः चमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधाना तदर्थम् चतुर्थम्। वही, पृ० ५२

५. दण्डी, काव्यादर्श १।६२

दण्डी के इस कथन के अनुसार यदि अलंकारों को रसपरक मान लिया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि इष्टार्थ से उनका तात्पर्य रस से है। फलतः उनके मतानुसार रसपरक अलंकार-विशिष्ट पदावली काव्य है। पण्डितराज जगन्नाथ इसी परम्परा के पोषक हैं। विश्वनाथ ने इष्टार्थ अथवा रमणीयार्थ पदों का आश्रय न लेकर सीधे ही रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हुए प्रकारान्तर से उनका अनुगमन किया है।

तीसरी परम्परा शब्दार्थयुगल को काव्य अभिहित करने की दिखाई पड़ती है। इसका उद्भव अलंकारशास्त्र के आदि आचार्य भामह से भी पूर्व भरत के नाट्यशास्त्र में हुआ प्रतीत होता है। उनके अनुसार काव्य शब्दार्थ-गूढ़ता आदि दोषों से रहित तथा मृदुता (प्रसाद), लालित्य (माधुर्य) आदि गुणों से युक्त, अलंकारों से अलकृत एवं रसयुक्त होना चाहिए।[1] नाट्यांग होने की स्थिति में उसे संधि-संधान-युक्त तथा नृत्य के अनुकूल भी होना चाहिए। आचार्य भामह, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, भोजराज, मम्मट आदि आचार्य इस परम्परा के पोषक कहे जा सकते हैं, किन्तु वामन ने इस लक्षण में गुण आदि के साथ रीति को भी संयुक्त कर दिया है।

एक अन्य परम्परा में कवि-व्यापार को काव्य माना गया है। इसका दर्शन हमें कुन्तक के **वक्रोक्तिजीवित** में मिलता है। किन्तु इस कवि-व्यापार को रसादि के अभिव्यञ्जक अलंकारादि विशिष्ट शब्द और अर्थ की योजना के द्वारा सहृदय-हृदय का आह्लादक होना चाहिए। एक प्रसंग में महिमभट्ट भी इस परम्परा का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं।[2]

उपर्युक्त परम्पराओं में जो एक समानता दिखाई पड़ती है, वह यह है कि काव्य में चाहे शब्द को प्राधान्य दिया जाय अथवा शब्दार्थ को या शब्द और अर्थ की संयोजना करने वाले कवि-व्यापार को, किन्तु किसी भी स्थिति में शब्द-अर्थ और उसके संयोजक कवि-व्यापार की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं है क्योंकि कवि-व्यापार के बिना शब्द अथवा शब्दार्थयोजना सम्भव नहीं है और शब्द-योजना के साथ अर्थयोजना अनिवार्य रूप से रहती ही है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि सरस शब्दार्थमय तथा लोकोत्तर वर्णनारूप कवि-कर्म काव्य है।

---

१. **नाट्यशास्त्र**, १६।११८

२. कवि-व्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्ति अव्यभिचारि काव्यमुच्यते। —**व्यक्तिविवेक**, पृ० ९६

काव्य का स्वरूप

डॉ० नरेश कुमार

काव्य के स्वरूप की अवधारणा को किसी एक परिभाषा में बांधना कठिन कार्य है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के अनुसार काव्य जहाँ रस-युक्त साहित्य का पर्याय है और काव्य को रमणीक अर्थ वाला, कला-सम्पन्न और दोष-विहीन होना चाहिए, वहाँ आधुनिक युग में काव्य को आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति माना गया है। आज काव्य छन्दोबद्ध या छन्दोयुक्त रचना का वाचक बन गया है और यहाँ तक देखने में आया है कि भाव एवं अभिव्यक्ति के विकृत रूप का प्रतिनिधित्व करने वाला अकवितावादी लेखन भी अपने को प्रतिष्ठापित करने के लिए छट-पटा रहा है, जो कि केवल वाग्जाल में उलझा हुआ है और उसमें साहित्य के लिए अपेक्षित रसवत्ता नहीं है। आज की कुछ कविताओं में परम्परा छूट रही है और अंग्रेजी विचारधारा को पाठकों की मानसिकता पर थोपने का प्रयास जारी है। संस्कृत के आचार्यों, पाश्चात्य विद्वानों और हिंदी के साहित्यकारों के द्वारा काव्य के स्वरूप की अवधारणा के संबंध में व्यक्त विचारों के आलोक में किसी भी निष्कर्ष को देना समीचीन होगा।

संस्कृत काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम उल्लेखनीय परिभाषा आचार्य भामह की है—"**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**"।[1] जहाँ शब्द और अर्थ में विशिष्ट प्रकार का भाव है, ऐसे विशेष शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं। वस्तुतः शब्द और अर्थ दोनों में इतनी घनिष्ठता होती है कि उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। शब्द और अर्थ की अनन्यता काव्य में अपेक्षित है[2] और दोनों के उचित सामंजस्य में ही काव्य का सौन्दर्य बना रहता है। उपर्युक्त लक्षण में दिए गए 'सहित' शब्द को राजशेखर ने '**काव्यामीमांसा**' में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शब्द और अर्थ का उपयुक्त सहभाव ही काव्य है। दण्डी ने 'अलंकृत शब्दार्थयुगल' को काव्य का स्वरूप माना है। वामन ने अलंकार का अर्थ 'सौन्दर्य' किया है। माधुर्यादि गुण और सौन्दर्य आदि से अलंकृत शब्द और अर्थ ही काव्य है।

आनन्दवर्धन के मतानुसार 'ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।' आनन्दवर्धन ने काव्य के लिए ललित शब्द का प्रयोग किया है। राजशेखर ने रस को ही काव्य की आत्मा माना है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना है। उन्होंने '**वक्रोक्तिजीवित**' में लिखा है कि कवि-प्रतिभा से दीपित, सहभाव से व्यवस्थित, वक्रोक्तिगर्भित काव्य आह्लाद देने वाला होता है। कुन्तक सामान्य शब्दार्थ को

१. काव्यालंकार १।१६

२. द्रष्टव्य: 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'......'वाणी और अर्थ के समान संयुक्त महादेव और पार्वती को मैं प्रणाम करता हूँ। कालिदास, **रघुवंश**। कालिदास के उपर्युक्त कथन से शब्द और अर्थ की सम्पृक्तता सिद्ध होती है।

नहीं, अपितु वाक्य में व्यवस्थित शब्दार्थ को काव्य का स्वरूप मानते हैं। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा माना है। औचित्य का सिद्धान्त काव्य को मर्यादा में रखने का उद्घोष करता है। काव्य के रूप और भाव की सीमाओं पर यह अंकुश का सा काम करती है। काव्यशास्त्र के इतिहास में रस का सिद्धान्त अधिक समर्थन प्राप्त करता रहा। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है'। यद्यपि अग्निपुराण[1] में अलंकारों को काव्य में महत्त्व दिया गया, तथापि रस को ही काव्य का परम तत्त्व स्वीकार किया गया। अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद में भी यह सिद्धान्त परिणत होता दिखाई पड़ता है।

आचार्य मम्मट के अनुसार—'शब्द और अर्थ काव्य है जो दोषों से रहित है, गुणों से युक्त है और चाहे अलंकार रहित भी है।' मम्मट के अनुसार प्रायः सर्वत्र अलंकृत शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं, परन्तु कहीं पर अलंकार न भी प्रकट हो तो काव्यत्व की हानि नहीं होती है। इस प्रकार मम्मट ने काव्य में अलंकारों की गौणता को प्रतिपादित किया है, परन्तु ऐसा कहने में उनका अभिप्राय अलंकार-रहित काव्य से नहीं है। फिर भी मम्मट के **'अनलंकृती पुनः क्वापि'** की आचार्य जयदेव ने आलोचना करते हुए लिखा है यदि कोई काव्य को अलंकार-विहीन मानता है तो वह अग्नि को उष्णता-विहीन क्यों नहीं मान लेता।[2]

दण्डी के अनुसार भी अलंकार काव्य के आवश्यक धर्म हैं। आचार्य विश्वनाथ ने **'साहित्य-दर्पण'** में आचार्य मम्मट के 'अदोषौ' पद का लक्षण में रखने की भी आलोचना की है। आचार्य विश्वनाथ का तर्क यह है कि यदि दोष-रहित शब्दार्थ को ही काव्य माना जाय तो दोष-रहित काव्य ही उपलब्ध होना कठिन हो जाएगा। इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के **'सगुणौ'** पद की भी आलोचना करते हुए तर्क दिया है कि गुण रस के धर्म होते हैं, शब्द तथा अर्थ के धर्म नहीं होते हैं। पंडित जगन्नाथ ने भी मम्मट की विचारधारा का खण्डन किया। उनके अनुसार काव्यत्व शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि नहीं है, अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म है। हेमचन्द्र, वाग्भट्ट-द्वय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, केशवमिश्र आदि ने काव्य में अलकारों के महत्त्व को स्वीकार किया है। पं० जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ के प्रतिपादक शब्द' को काव्य की संज्ञा दी है। काव्य के व्यापक स्वरूप को 'रमणीय' शब्द अपने में समाविष्ट करता है। रमणीय रूप की परिधि में भाव, ध्वनि, अलंकार आदि आते हैं। इस प्रकार पं० जगन्नाथ की परिभाषा काव्य के स्वरूप को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में सक्षम है। श्री नागेश का मन्तव्य है कि शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्यत्व रहता है और काव्यत्व का प्रयोजक 'रसास्वादव्यञ्जकत्व' है।

१. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्, **अग्निपुराण, ३३७।३३**
२. **चन्द्रालोक, १।८**

रीतिकार वामन रीति को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। रीति-सम्प्रदाय में अभिव्यक्ति को शब्दगत माना है और रीति को गुणात्मक माना है। जबकि ओज, माधुर्य, आदि गुण शब्दगत ही नहीं, वरन् भावगत भी होते हैं।

विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्तों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि काव्य में किसी एक तत्त्व को ही महत्त्वपूर्ण मानने का आग्रह बना रहा और इस लिए उन्हें एकांगी दृष्टिकोणात्मक माना जा सकता है। वस्तुतः काव्यशास्त्रियों के सिद्धान्तों के परस्पर विरोध ने काव्यशास्त्र के स्वरूप के इतिहास को भ्रान्तिपूर्ण बना दिया।

पाश्चात्य मत

पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार काव्य एक ललित कला है। सर्वप्रथम अरस्तू का मत उल्लेखनीय है "Poetry in an art. Art is an imitation of nature." अर्थात् 'कविता एक कला है और कया प्रकृति का अनुकरण है।' अरस्तू के 'प्रकृति' और 'अनुकरण' शब्द की व्याख्या करते हुए विद्वानों ने लिखा है कि 'प्रकृति' में केवल अचेतन भौतिक प्रकृति ही नहीं, सचेतन मानव-प्रकृति भी संयुक्त है। इस प्रकार 'प्रकृति' से तात्पर्य 'जीवन की समग्रता' से है। प्रो० बूचर ने अनुकृति को सौन्दर्यात्मिक अन्तर्वृत्ति माना है। उन्होंने अनुकृति के संबंध में लिखा है—"Poetry imitates the universal element in human life," अर्थात् 'काव्य जीवन के विश्वजनीन तत्त्वों की अनुकृति है।'

कॉलरिज ने 'उत्तम शब्दों के उत्तम क्रम' को काव्य माना है। कालरिज के अनुसार 'जो मानव की पूर्ण आत्मा को क्रियाशील करती है, वही कविता है।'

शैले ने काव्य में कल्पना की अभिव्यक्ति को महत्त्वपूर्ण मानते हुए लिखा है—"Poetry in general is the expression of imagination."

स्पष्ट है कि शैले ने भाव-तत्त्व की उपेक्षा की है। हण्ट ने शैले के समान ही विचार व्यक्त किए। एडगर ऐलन पो के अनुसार—" Poetry in a rythmic creation of beauty," अर्थात् 'कविता सौन्दर्य की लयात्मक अभिव्यक्ति है।' ड्राइडन ने अपनी परिभाषा में कोई नवीन बात नहीं दी। ड्राइडन ने लिखा है—"Poetry is an imitation of nature by pathetic and numerous speech," अर्थात् 'कविता भावात्मक और छन्दोबद्ध भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है।' जानसन ने काव्य में छन्द-निर्वाह को आवश्यक माना है। वर्ड्सवर्थ के अनुसार—"Poerty is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquility," अर्थात् 'काव्य प्रबल मनोवेगों का सहज उच्छलन है। मनः-शान्ति की स्थिति में स्मरण किए गए संवेगों से काव्य उत्पन्न होता है।' वर्ड्सवर्थ ने अपनी परिभाषा में 'काव्य-शिल्प' की उपेक्षा की है। मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार 'कविता

जीवन की आलोचना है।' काव्य में जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है। जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति से रहित काव्य निरर्थक है। काव्य के स्वरूप के संबंध में उन्होंने अरस्तू के विचारों का ही समर्थन किया है—"We all naturally take pleasure, says Aristotle, in any imitation or representation whatever. This is the basis of our love of poetry,"

टी० एस० इलियट ने 'दि सिकिरेट वुड' में काव्य को उच्चतर मनोरंजन कहा है —"Poetry is a superior amusement." इलियट के अनुसार काव्य 'उत्तम व्यवस्था एवं उत्तम छंद में उत्तम शब्द हैं' —"Excellent words in excellent arrangement and excellent metre." उन्होंने यह भी कहा है कि 'काव्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं है, अपितु व्यक्तित्व से पलायन करना है।'

संस्कृत के आचार्यों एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के दृष्टिकोण का अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार रस एवं रमणीय शब्दार्थ-युक्त ही काव्य है, वहाँ पाश्चात्य मत के अनुसार सौन्दर्य की अभिव्यक्ति एवं कल्पना का सहज उच्छलन ही काव्य है।

हिंदी के साहित्यकारों की धारणा

हिंदी के साहित्यकारों में सर्वप्रथम आचार्य-प्रवर रामचन्द्र शुक्ल की परिभाषा उल्लेखनीय है—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई हैं, उसे कविता कहते हैं।" शुक्लजी के अनुसार कविता मनुष्य को उच्च भूमि की ओर ले जाती है। अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ और अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के विचार समान ही हैं—"भावोद्रेक होने पर जो कविता-स्रोत हृदय-सरोवर से स्वभावतया फूट निकलती है वास्तविक कविता के गुण उसी में होते हैं।'[1] यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य शुक्ल ने लोकहित को महत्त्व दिया है। श्री जयशंकर प्रसाद के अनुसार "काव्य आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है।"[2]

रामधारी सिंह 'दिनकर' के अनुसार—'कविता न तो कोमल भाषा, न गेय छन्द, न कोरी भावुकता में है। वह मन की एक विशिष्ट मनोदशा का प्रतिफलन है, वह मनुष्य की उस दृष्टि का नाम है जो वस्तुओं के उन आभ्यन्तर रूप को देखती है और दर्शाती है जो रूप विज्ञान में देखे नहीं जा सकते हैं।[3] वस्तुतः अलंकार काव्य के आवश्यक धर्म हैं, परन्तु अलंकार ही काव्य के सर्वस्व नहीं हैं।

१. रसकलश भूमिका पृ० १२३
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४२
३. सीपी और शंख, भूमिका पृ० 'ङ'

अलंकारों का प्रयोग रस का सहयोगी होता है। कविता में भावात्मकता की प्रधानता होती है। किसी कवि ने कहा भी है—

> "मुझे साहित्य का रसातल न चाहिए,
> न चाहिए अगाध भाव, देवी।
> मुझे तो सिर्फ भावनाएँ प्रदान करो,
> मैं साहित्य का रसातल छू लूँगा।"

वस्तुतः कविता भावना से चिपटी हुई होनी चाहिए। कविता में जितना हृदय-तत्त्व है, वह रसमय एवं आनन्दमय है और मस्तिष्क के व्यायाम से परे है। भावतत्व को पकड़े रखने वाली कविता ही अभिनन्दनीय है। काव्य में भावना-सत्य होता है, घटना-सत्य उतना नहीं होता है। जो काव्य काम-भावना को उद्दीप्त करता है, निकृष्ट कोटि का कहा जाएगा। जो काव्य लौकिक प्रेम से मानव को अलौकिक प्रेम की ओर उन्मुख करता हो, श्रेष्ठ कहा जाएगा, परन्तु जो काव्य मानव को भक्ति-भावना से अनुप्राणित करे, वह श्रेष्ठतम कोटि में स्थान पाने का अधिकारी होगा। दूसरे शब्दों में काम को 'शरीर से शरीर का मिलन', प्रेम को 'मन से मन का मिलन' और भक्ति को 'आत्मा का परमात्मा से मि न' कहा जा सकता है।

रूप और भाव की स्थिति ही काव्य के स्वरूप को निर्धारित करती है। काव्य का रूप शब्द है और भाव उसका तत्त्व है। भावों की मार्मिकता काव्य को सुन्दर बनाती है। रूप और अर्थ का सामंजस्य किसी रचना को श्रेष्ठ बनाता है। रूप का अतिशय जहाँ काव्य को कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करता है, वहाँ अर्थ का भाव उसे रसात्मक बनाता है। वस्तुतः काव्य जीवन की वास्तविकताओं की अभिव्यक्ति है। जिस काव्य में जीवन-मूल्यों की उपेक्षा होती है, वह कदापि श्रेष्ठ कोटि का काव्य नहीं हो सकता। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में लोकहित की भावना को अधिक महत्त्व प्रदान नहीं किया गया, जबकि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने लोक-मंगल की भावना को प्रमुख माना है। वस्तुतः काव्य के लिए सोद्देश्य होना और शिव तत्त्व का उसमें समावेश होना अपेक्षित है। भाव एवं कला का सामंजस्य ही उत्तम काव्य का रहस्य है। जो कविता समाज को कोई कल्याणकारी सन्देश न दे सके, वह कविता कोरी कल्पना मात्र है। वही साहित्य अभिनन्दनीय है, जो धरती के यथार्थ को मुखरित करता हो, जिसमें शाश्वत सत्यों एवं जीवन के ऋत को स्थान दिया गया है। वस्तुतः जीवन का ऋत ही सार्वकालिक सत्य है।

काव्य में औचित्य

—डॉ० मृदुला सिंह

चारुत्व-प्रवाह में जो स्थान गुण, अलंकार, वक्रोक्ति आदि का है, वही स्थान अनुभूति-प्रवाह में औचित्य का है, जिसका रसादि तत्त्वों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। रस-सिद्ध काव्य का प्राण औचित्य ही है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर पर हारादि आभूषण उसके बाह्य-सौन्दर्य के प्रसाधक होते हैं किन्तु सत्य, शील-त्वादि गुण आभ्यन्तर सौन्दर्य के प्रकाशक होते हैं, उसी प्रकार काव्य-शरीर में औचित्य का भी आन्तरिक तथा अविनश्वर अस्तित्व है। काव्य में गुण, अलंकार, रीति रस आदि तत्त्व उसी स्थिति में चमत्कार तथा रमणीयता उत्पन्न करने में सक्षम हैं जबकि उनका प्रतिपादन औचित्य-पूर्ण ढंग से किया गया हो। काव्य में औचित्य की इस महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य स्थिति को दृष्टिगत करते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं कि 'अलंकार तो अलंकार ही हैं और गुण गुण ही हैं परन्तु रस-सिद्ध काव्य का अविनाशी जीवित तो औचित्य ही है'—

अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणाः सदा,
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्य-जीवितम्

औ० वि० च०—का० ५

ऐतिहासिक अवधारणा-क्रम में औचित्यः—

यद्यपि भारतीय काव्य-शास्त्र में औचित्य-तत्त्व की प्रतिष्ठापना काव्यात्मा रूप में आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा ही की गयी थी तथापि काव्य के इस तत्त्व से समस्त काव्य-शास्त्री भली भाँति परिचित थे। प्रकारान्तर से काव्य में औचित्य का प्रतिपादन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से समस्त काव्यज्ञों द्वारा किया गया।

आचार्य भरत ने यद्यपि 'औचित्य' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया किन्तु समस्त नाट्यांगों में परस्पर अनुरूपता या अनुकूलता का जो विवेचन किया है, उसे दूसरे शब्दों में 'औचित्य' कहा जा सकता है। 'औचित्य' की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने कहा है कि नाटक के पात्रों की वेशभूषा उनके देश और आयु के अनुरूप होनी चाहिए। जो वेश देशानुकूल नहीं है वह शोभाधायक नहीं हो सकता, जैसे कि वक्ष और मणिबन्ध पर धारण की गयी मेखला उपहासास्पद ही होती है—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥

ना० शा० २६.१३

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेशोवेशाऽनुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्चकार्यः॥

ना० शा०—२३.६९

भरत-प्रणीत उक्त सूत्रों में औचित्य शब्द का प्रयोग न होने पर भी औचित्य की उद्भावना निश्चित रूप से की गयी है, जो परवर्ती आचार्यों के लिए प्रेरणा-स्रोत रही है ।

औचित्य की विकास-विवेचन-शृंखला में मुनि भरत के पश्चात् आचार्य भामह अवतरणीय हैं जिन्होंने अलंकार सिद्धान्त के अन्तर्गत दोष-वर्णन करते हुए प्रकारान्तर से औचित्य-सम्बन्धी अवधारणा की ही प्रतिष्ठा की है । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि औचित्य के सद्भाव का संस्पर्श कभी-कभी दोष को भी गुण रूप में परिवर्तित कर देता है, जैसे माला में गूँथा गया नीला पलाश—

सन्निवेशविशेषस्तु दुरुक्तमपि शोभते ।
नीलपलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥

काव्यालंकार-१.५४

जिस प्रकार कामिनी के नेत्रों में लगाया गया अंजन उसके सौन्दर्य की वृद्धि करता है, उसी प्रकार असुन्दर वस्तु भी आश्रय के माध्यम से शोभाधान करने में समर्थ होती हैं—

किंचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीसममिवांजनम् ॥

अत: भामह का विचार था कि औचित्य ही वह उपकरण है जिससे अन्य तत्त्वों में सौन्दर्योत्पत्ति होती है ।

आचार्य दण्डी ने यद्यपि गुण-दोष विवेचन में स्पष्टत: औचित्य शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि उनका मूलाधार औचित्य सम्बन्धी अवधारणा ही है । उनके शब्दों में देश, काल, लोक आदि के विरोधी तथ्य भी कवि-नैपुण्य से औचित्य का संस्पर्श प्राप्त कर काव्यगुण का रूप धारण कर लेते हैं—

विरोध: सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥

काव्यादर्श—४.५७

इतना ही नहीं, दोष-स्थिति केवल अनौचित्य के कारण उत्पन्न होती है तथा औचित्य का निर्वाह होने पर ही काव्य में गुणवत्ता की सम्भावना है । अत: आचार्य दण्डी ने औचित्य का अभाव ही दोषोत्पत्ति का मूल कारण माना है ।

भारतीय काव्य-शास्त्र में औचित्य-तत्त्व का विवेचन भामह तथा दंडी द्वारा सम्यक्-प्रकारेण किया गया, तथापि रुद्रट ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने औचित्य का स्वतन्त्र रूप से निर्वाह किया । देश, कुल, जाति, विद्या, आयु, स्थान और पात्रों के व्यवहार में अनौचित्य का होना ही ग्राम्यत्व दोष है—

ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेशवचनानाम् ।
देशकुलजातिविद्यावित्तवय:स्थानपात्रेषु ॥ **काव्यालंकार ११.९**

रुद्रट ने औचित्य का अभाव दोष माना तथा विभिन्न काव्यांगों में औचित्य-निर्वाह पर विशेष ध्यान दिया। वृत्ति आदि के विवेचन में रुद्रट ने औचित्य-निर्वाह पर प्रकाश डाला है।

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरथानल्पदीर्घाः कार्याः मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः॥

काव्यालंकार, २.३२

यही नहीं, रुद्रट ने अपने दोष-विवेचन में ऐसे स्थलों की ओर संकेत किया है, जहाँ औचित्य के माध्यम से दोष भी काव्य के गुण बन जाते हैं। यही कारण है कि उनके शब्दों में दोषों की स्थिति मुख्यतः अनौचित्य के कारण ही है।

औचित्य का विस्तृत विवेचन करने वाले आचार्यों में रुद्रट के पश्चात् ध्वनि-सम्राट् आनन्दवर्धन उद्धरणीय हैं। उन्होंने अलंकार, गुण, रीति, रस आदि समस्त तत्त्वों के विनियोजन में औचित्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की है। काव्य में अलंकारों का सन्निवेश रसौचित्य की दृष्टि से ही करना चाहिए। काव्य में रस ही प्रधान अलंकार्य है तथा रस आदि को लक्ष्य कर नियोजित अलंकार ही अलंकारत्व प्राप्त करने में समर्थ हैं—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥

ध्वन्यालोक, ३.६

आनन्दवर्धन ने अनौचित्य को रसभंग का कारण स्वीकार करते हुए लिखा—'अनौचित्य ही रसभंग का प्रधान कारण है, अनुचित वस्तु के सन्निवेश से काव्य में रस-परिपाक सम्भव नहीं'—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

ध्वन्यालोक, पृ० ३०२

उनके कथानुसार वही रचना सौन्दर्ययुक्त कही जा सकती है जिसमें निबन्धन औचित्य के अनुकूल होता है। रसानुरूप शब्द और अर्थ का औचित्य-पूर्ण नियोजन ही महाकवि का मुख्य कर्म होता है—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतद् मुख्यं कर्म महाकवेः॥

ध्वन्यालोक, ३.३२

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने औचित्य सिद्धान्त को व्यापक रूप प्रदान किया। आनन्दवर्द्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने औचित्य-महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा—'औचित्य केवल मात्र सम्बन्ध-विशेष है। वह रस-भाव-अलंकारादि तत्त्वों में रहता है, क्योंकि इसके द्वारा ही काव्य में सौन्दर्यसृष्टि होती है। रस, ध्वनि

और औचित्य काव्य के स्थायी तत्त्व हैं। ये परस्पर अनस्यूत होकर ही काव्य में भव्यता लाते हैं, किन्तु काव्य का मूलभूत जीवित तत्त्व रस-ध्वनि है और औचित्य उससे सम्बद्ध रहता है। औचित्य की स्वतन्त्रसत्ता गौण है किन्तु औचित्य के अभाव से विविध आभास परिलक्षित होते हैं जैसे—औचित्य-हीन काव्य औचित्य-भास, औचित्य-रहित रस रसाभास ही कहा जा सकता है।

अत: अभिनव गुप्त के उक्त कथन से स्पष्ट है कि औचित्य के अभाव में कोई भी काव्यांग पूर्णता को प्राप्त करने में असमर्थ है, यही कारण है कि औचित्य ही शोभादायक उपकरण है।

कुन्तक ने, जो वक्रता सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक तथा प्रवर्त्तकाचार्य थे, वक्रता के अन्तर्गत औचित्य का समावेश कर उसके महत्त्व को स्वीकृति दी है। उनका कथन है कि औचित्य वक्रता का परम रहस्य है और वक्रता का मूलाधार औचित्य ही है। वक्ता या श्रोता के अति मधुर स्वभाव द्वारा वाच्य-वस्तु को सर्वथा आच्छादित कर दिया जाना भी औचित्य ही है—

यत्र वक्तुः प्रमातुः वा वाच्यशोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते॥

वक्रोक्तिजीवित—१.५४

काव्य-गुणों को विवेचित करते हुए कुन्तक ने औचित्य गुण को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। उनके काव्य-लक्षण के शब्दार्थ का सामंजस्य भाव और बन्ध-व्यवस्थित भाव प्रकारान्तर से औचित्य ही है क्योंकि शब्दार्थ का उचित सहभाव काव्य कहलाता है। औचित्य-गुण की परिभाषा कुन्तक के शब्दों में निम्नलिखित है—

आंजसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानं जीवितम्॥

व० जी०—१.५३

वक्रता के विभिन्न प्रकारों को सम्पादित करते हुए कुन्तक ने इनका आधार औचित्य को माना है। वर्ण-वक्रता के अन्तर्गत कुन्तक पदौचित्य, वृत्यौचित्य, अलंकारौचित्य आदि का सन्निवेश करते हैं। शब्द और अर्थ की विशिष्टता को उन्होंने 'शब्द-पारमार्थ्य' तथा 'अर्थ-पारमर्थ्य' नाम दिया जो 'पदौचित्य' तथा 'अर्थौचित्य' ही है। इस प्रकार वक्रता और औचित्य एक दूसरे में अनुस्यूत हैं।

औचित्य का विवेचन करते हुए महिमभट्ट का कथन है कि रसात्मक काव्य को अनौचित्य से रहित होना चाहिए। उन्होंने अनौचित्य को ही दोष-रूप में स्वीकार किया तथा रस-प्रतीति में बाधक माना। 'कुतस्तत्रानौचित्य-संस्पर्शः सम्भाव्यते' अर्थात् रसात्मक काव्य में अनौचित्य का संस्पर्श हो ही नहीं सकता। महिमभट्ट के विचारानुसार यह अनौचित्य दो प्रकार का है—अर्थ-विषयक तथा शब्द-विषयक। अर्थ-विषयक अनौचित्य के अन्तर्गत रस, भावादि से सम्बन्धित

अनौचित्य आता है, क्योंकि रसभावादि काव्य के अन्तरंग तत्व होते हैं। इसके विपरीत शब्द-विषयक अनौचित्य का क्षेत्र काव्य का बहिरंग होता है। अतः शब्द-विषयक अनौचित्य को बहिरंगीय अनौचित्य कहा गया है। इस प्रकार व्यक्तिविवेकार के शब्दों में अनौचित्य ही काव्य का प्रमुख दोष है।

ध्वनिवादी आचार्यों ने भी काव्य में औचित्य का विशेष महत्त्व स्वीकार किया। उनके अनुसार काव्योत्कर्ष के लिए रसादि के औचित्यपूर्ण विधान में ही कवि का कवित्व अवलम्बित है। रस-दोषों की विवेचना करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है कि किसी भी कृति में दोषों की सम्भावना तभी होती है जबकि रस-संविधान में औचित्य का अतिक्रमण किया गया हो।

आचार्य क्षेमेन्द्र को साहित्य-जगत् में औचित्य के संस्थापक तथा प्रवर्त्तकाचार्य के रूप में स्मरण किया जाता है। औचित्य के स्वरूप का उल्लेख करते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं कि जो जिसके अनुरूप है उसे उचित कहते हैं, उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाता है —

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते॥

औ० वि० च०, का०—७

क्षेमेन्द्र वस्तुतः रसवादी आचार्य हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि काव्य की आत्मा तो रस है और औचित्य तो रस का जीवित ही है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुते अधुना॥

औ० वि० च०, का०—३

जिस काव्य में उसका जीवितभूत औचित्य नहीं है, उसमें अलंकारों और गुणों का नियोजन सर्वथा व्यर्थ ही है—

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥

का०—४

क्षेमेन्द्र का अभिमत है कि अलंकारों का अलंकारत्व तभी सम्भव है जबकि उनका प्रयोग यथोचित स्थान पर किया गया हो। इसी प्रकार गुणों का गुणत्व भी औचित्य पर ही आश्रित है। औचित्य के महत्त्व को दर्शाते हुए क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि यदि कंठ में मेखला, हाथ में नूपुर, चरण में केयूर-पाश कोई धारण करता है तो क्या वह उपहास का पात्र नहीं होगा ?

अतः स्पष्टतः कहा जा सकता है कि केवलमात्र साहित्यिक संसार में ही नहीं अपितु लौकिक जगत् में भी औचित्य की महत्ता का तिरस्कार नहीं किया जा सकता।

ऐतिहासिक विकास-परम्परा में औचित्य-तत्त्व के वर्णनोपरान्त तथा काव्य-जगत् में औचित्य का स्थान निर्धारित करने से पूर्व औचित्य के भेदोपभेदों पर विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक होगा। जिस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति का विस्तार वर्ण आदि से लेकर सम्पूर्ण प्रबन्ध तक माना है उसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य को अत्यधिक व्यापक रूप प्रदान किया। उनके शब्दों में औचित्य की स्थिति काव्य के सभी तत्त्वों में होती है। अत: उन्होंने औचित्य के अनेक भेद किये यथा—पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिङ्ग, विशेषण आदि —

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणे अलंकरणे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे।।

किन्तु अध्ययनात्मक सुविधा के लिए काव्यशास्त्रियों ने उक्त सत्ताईस भेदों को चार मुख्य वर्गों मे विभाजित किया, —भाषा तथा शैलीगत औचित्य, रचना-विधानौचित्य, विषयौचित्य तथा कल्पनौचित्य।

औचित्य-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि साहित्य अथवा काव्य में औचित्य की अपरिहार्य सत्ता है। उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जिसमें काव्य ही नहीं अपितु साहित्य की समस्त विधायें समाविष्ट हैं। कोई भी काव्य-कृति तभी रमणीय कही जा सकती है जबकि उसके अंगों-प्रत्यंगों की सम्पूर्ण योजना में औचित्य का सम्यक्त: निर्वाह किया गया हो। जहाँ कहीं जिस स्थल पर भी औचित्य की उपेक्षा कर दी जाती है वहीं दोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वस्तुत: औचित्य स्वयं में एक ऐसा विवेक है जो कि काव्य के विभिन्न अंगों के उचितानुचित प्रयोग का निर्धारण करता है। यही काव्य का वह उपकरण है जिसके अभाव में कोई भी विधा आकर्षक नहीं हो सकती।

जहाँ तक काव्य में औचित्य के स्थान-निर्धारण का प्रश्न है यह कहना अनुचित नहीं होगा कि काव्य की आत्मा तो रस है और औचित्य उसे चिरस्थायी जीवन प्रदान करने वाला उपकरण है। क्षेमेन्द्र के मतानुसार रस काव्य का प्राण-तत्त्व है जिससे काव्य की सिद्धि होती है और औचित्य उसका जीवित है। अगर रस अभिव्यक्ति का अनुभूतिमय सौन्दर्य-तत्त्व है तो औचित्य उसका उन्मेषक तत्त्व है। रस में यदि सौन्दर्य है तो उसका कारण औचित्य ही है। अत: रस से औचि-को पृथक् नहीं किया जा सकता।

औचित्य अपने आप में काव्य का महत्त्वपूर्ण अंग होते हुए भी अलंकार-शास्त्र में बहुत प्रतिष्ठित स्थान नहीं प्राप्त कर सका क्योंकि यह कोई स्वतन्त्र तत्त्व न होकर अनेक काव्य-तत्त्वों के सामञ्जस्य के रूप में प्राप्त होता है। जब काव्य की आत्मा का प्रश्न उठा तो खोज इस बात की हुई कि वह कौन सा तत्त्व है जिसके बिना काव्य काव्य नहीं कहला सकता। अलंकार, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति,

रीति को इस प्रकार के स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया। किन्तु औचित्य इस प्रकार का कोई स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व न होकर अन्य तत्त्वों के समन्वय तक सीमित रहा। फिर भी, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, औचित्य के महत्त्व को लगभग सभी अलंकारिकों ने स्वीकार किया है और क्योंकि सब तत्त्वों के होते हुए भी औचित्य के न रहने पर काव्य को काव्य नहीं माना जाता, अतः औचित्य को एक स्वतन्त्र तत्त्व भी स्वीकार किया जा सकता है।

कर्तव्य-बोध और रस-निष्पत्ति
(नैतिक और कलात्मक मूल्य)

—डॉ० एस० पी० श्रीवास्तव

मानव-संस्कृति के विकास में रसानुभूति और नैतिक मूल्य-बोध के परस्पर विरोध और समन्वय की समस्या के विशद आयाम हैं। वर्ड्सवर्थ की Ode to Duty में कर्तव्य-बोध को सहज रसानुभूति में बाधक, एक तरह के दबाव के रूप में देखा गया है, और उस सराहनीय स्थिति की आकांक्षा की गई है, जब व्यक्ति कर्तव्य-बोध से मुक्त रहते हुए अपने कर्तव्यों का सहज भाव से पालन करने लग जाये। प्लेटो ने कलात्मक रसानुभूति को प्रबुद्ध कर्तव्य-निष्ठा का घातक मान कर रसानुभूति को दार्शनिक बल्कि आदर्श नागरिक तक के जीवन में हेय स्थान प्रदान किया है। साधारण जन-मानस नैतिकता और रसिकता को एक-दूसरे के विपर्यय के रूप में ग्रहण करता है।

नैतिकता और रसिकता के समन्वयन के प्रयास उनके परस्पर विरोध को पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। एक ओर अध्यात्म-परायण प्रत्यय-वादी दार्शनिक परम्परा नैतिक-बौद्धिक श्रेष्ठता के मापदण्ड पर बल देकर सौन्दर्य-प्रियता की अनिवार्य सर्वगम्यता को कुण्ठित-बाधित करके, रसानुभूति की मौलिक सहजता को नष्ट करती है, दूसरी और विभिन्न प्रकार की मौलिकता-परायण यथार्थ-निष्ठ चिन्तन-धारायें सरस सौंदर्यानुभूति की सहजता की सुरक्षा के हित में नैतिक मूल्य को भ्रान्तिमूलक या वैयक्तिक आवेगजन्य विकृत परिदृश्य सिद्ध करने का प्रयास करती हैं। काण्ट, बोसांके, टालस्टाय आदि पहली श्रेणी के और मार्क्स, फ्रायड, डयूई आदि दूसरी श्रेणी के प्रतिनिधि गिनाये जा सकते हैं।

शैफट्सबरी का रसेन्द्रियवादी नैतिक अन्तःकरणवाद नैतिक शुभ और सत् के प्रत्ययों को सौंदर्य-बोध के अन्तर्गत समाविष्ट करने का प्रयत्न करता है, जबकि क्रोचे कलात्मक सृजन की प्रक्रिया में कलाकार के संमोहन का महत्त्व स्वीकार करता है, जो एक तरह का नैतिक प्रयास कहा जायेगा। शिलर की प्रसिद्ध उक्ति— 'सौन्दर्य-बोध की मानसिक क्रिया बिना पक्षपात सभी अन्य मानसिक मूल्य-बोधात्मक क्रियाओं की अनुमोदक स्थिति अथवा अनुकूल आधार-भूमि प्रदान करती है' —रसानुभूति को नैतिक अनुभूति की पूर्वगामी आधार शिला के रूप में प्रस्तुत करती है। शैली व्यक्ति की चारित्रिक उत्कृष्टता का मापदण्ड उसकी गहन कल्पना-शीलता और रस-ग्राह्यता को बताता है। सौन्दर्य-बोध को शुभ अर्थात् शिव तत्त्व के अधीन रखने का प्रयास प्लेटो और काण्ट की अपेक्षा कदाचित् भारतीय शैव सिद्धान्त में अधिक सफलता पूर्वक किया गया है। क्षेमेन्द्र द्वारा औचित्य की रस-बोध के प्राण के रूप में प्रतिष्ठा कदाचित् कश्मीरी या वृहत्तर शैव सिद्धान्त का आधारभूत अभिमत व्यक्त करती है।

मुझे बहुधा आश्चर्य होता है कि कर्तव्य-बोध का समावेश रसनिष्पत्ति के अन्तर्गत विचारणीय क्यों नहीं समझा गया। धनञ्जय रस के स्वरूप का निरूपण करते हुए रम्य, जुगुप्सित, उदार, नीच, यहाँ तक कि अवस्तु तक को कवि-भावना का विषय बनने पर लोकों को रस-सिक्त करने की क्षमता से सम्पन्न बताते हैं। तो फिर कर्तव्य-बोध श्रीमद्भगवतगीता जैसे काव्य का विषय बनकर भी रस-निष्पत्ति के विमर्श के बहिर्गत क्यों बना रहे ? रस-सिद्धान्त के स्थापन और विवेचन का मूल सन्दर्भ नाट्य होने पर भी कर्तव्य-बोध को भक्ति, शान्त, श्रृंगार आदि की श्रेणी में न रखने का औचित्य कुछ अत्यन्त संगत अवश्य रहा होगा, किन्तु रस-संख्या को आठ, नौ या दस तक सीमित रखने का मूल मन्तव्य गम्भीर गवेषणा का विषय होना चाहिये। भरत की कुछ अपनी सीमाएँ रही होंगी, किन्तु समस्त एतद्विषयक परवर्ती चिन्तन, व्याख्या-परम्परा-परायण शास्त्रीयता या स्कालेस्टेसिज़्म में उलझा रहना सामान्य भारतीय परम्परा की कड़ी हो सकता है। अरस्तू के बाद लगभग दो हजार वर्ष तक तर्कशास्त्र की अनुर्वरता मुझे अपने देश के हर अकेडेमिक क्षेत्र में विद्यमान प्रतीत होता है। सौन्दर्यशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं।

भारतीय रस-सिद्धान्त के संदर्भ में मैक्डूगल के संवेग और स्थायीभाव के सिद्धान्त की चर्चा विश्व-विद्यालय अनुसंधान के विषय में लोकप्रिय रही है। मुझे इस प्रकार की तुलना बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होती। रस-सिद्धान्त के पोषण-समर्थन आदि के इरादे से मैक्डूगल आदि का संदर्भ प्रस्तुत करना बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में बहुधा भारतीय अकेडेमिक क्षेत्रों की सामान्य प्रकृति का परिचायक रहा है। मैक्डूगल का सिद्धान्त स्वयं त्रुटि-पूर्ण है। एक तो उसकी वेग की परिभाषा ही संभ्रमपूर्ण है। भय, क्रोध और रचनात्मक संवेग, सामाजिक संवेग आदि एक ही अर्थ में संवेग नहीं हैं। फिर उसका स्थायीभाव, रस-सिद्धान्त के स्थायी भाव से नितान्त भिन्न है। संख्या की दृष्टि से अवश्य यह कहा जा सकता है कि उस का मूल-प्रवृत्ति और उनसे संबद्ध संवेगों की संख्या का निर्धारण कुछ वैसा ही स्वेच्छाचारी है, जैसा कि कुछ सीमित अर्थ में रसों की संख्या का निर्धारण।

प्रस्तुत संदर्भ में मेरा प्रश्न और मेरा सुझाव यही है कि कर्तव्य-बोध को रस-परिपाक और रस-निष्पत्ति के अन्तर्गत शामिल किये जाने की सम्भावना पर समुचित विमर्श होना चाहिए। रसों की संख्या में वृद्धि, रस-सिद्धान्त के इतिहास का एक सत्य है। कर्तव्य-बोध एक तरह की रसानुभूति प्रस्तुत करता है जिसकी मौलिकता को परम्परागत नौ या दस रसों में विश्लेषित-अपाहृत नहीं किया जा सकता। इस तरह का रस-सिद्धान्त-परिवर्धन नैतिक मूल्य और रसानुभूति के द्वन्द्व की समस्या शायद समाप्त तो नहीं कर सकेगा, किन्तु उसके समाधान की दिशा में भारतीय समकालिक चिन्तन का एक महत्त्वपूर्ण योगदान होगा।

"रम्याणि वीक्ष्य:" कालिदास का सौन्दर्य-दर्शन
(नारी-सौन्दर्य के सन्दर्भ में)

—डॉ० सुधा पाण्डेय

प्रेम और सौन्दर्य के अमर गायक विश्वकवि कालिदास उन सुकृति-सम्पन्न रस-सिद्ध कविश्वरों में हैं जिनकी रसमयी वाणी नाना रूपों में सौन्दर्य-अभिषिक्त और आनन्द-विमंडित होती रहती है। श्री और समृद्धि, कलाओं के ललित विलास से भारावनत भारतीय संस्कृति के निरुपम मधुरस्वर्ण युग की विरासत, तपोवनीय अरण्य संस्कृति की नैसर्गिक सुषमा, राजप्रासादों के आभिजात्य संस्कारों का परिष्करण, लावण्यमयी अंगनाओं के मधुमय भ्रू-विलास, विरहोत्कंठिता-विप्रयुक्ताओं के गलदश्रु भावोच्छ्वास, विद्युतवनिता का अंनत विलास, ईषदुन्नीत सरस मोहक नृत्यभंगिमा आदि-आदि विभिन्न रूपों के इन्द्र-धनुषी ताने-बाने से कवि के कृतित्व की रचना हुई है। नदियों की लोल लहरों के समान विधुरचंचल अंतर के लाक्षा-राग को विगलित करने वाली कवि की कविता-वन्या का प्रसार अपरिमित है एवं उसका वैशिष्ट्य हृदय ग्राहिता की दृष्टि से अनिर्वचनीय निरुपम जिसे शब्दों की परिधि में बाँध सकना कठिन है। **"अनामिका सार्थवती बभूव"**।

प्रकृति के राशि-राशि सौन्दर्य ने कवि के अन्तर्मन को जहाँ मुग्ध किया है, रसमयी वाणी के अतिरेक से सर्वात्मना विस्मय-विमुग्ध बनाया है, वहीं मानव-प्राणों में नारी-सृष्टि की रहस्यात्मक शक्ति, नारी-सौन्दर्य और उद्दाम प्रेम की संगीत-लहरियों द्वारा आनन्दार्णव भी तरंगायित किया है। कालिदास सौन्दर्य के निरुपम चित्रकार हैं जिनके सौन्दर्य-निरूपण की समकक्षता अन्यत्र दुर्लभ है। **प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या, न कालिदासादपरस्य वाणी**। वागर्थ की प्रतिपत्ति के लिए वागर्थ की भाँति संपृक्त उमा-महेश्वर के युगनद्ध रूप की कल्पना के माध्यम से प्रारम्भ में ही महाकवि ने सौन्दर्यावगाहिनी प्रतिमा के उस रूप का निदर्शन कराया है जो आनन्द के अखण्ड व समन्वित महिमामंडित परस्परस्पर्द्धी चारुता के वैभव से भी सन्नद्ध है। कालिदास ने सौन्दर्य-रमणीय चित्रों को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसकी पराश्रय निरपेक्षता, नित नूतनता, पूर्णता, आकर्षकता, आनन्दात्मकता तथा आध्यात्मिकता का वर्णन भी किया है और सुन्दर की वस्तुनिष्ठता अथवा व्यक्ति-निष्ठता के सम्बन्ध में अपने विचार दिये हैं।[1]

सम्पूर्ण कालिदास-काव्य-आलोक मधुर, सहज, सौन्दर्य की जगमगाहट से दीप्त है। नित्य और अपरिवर्तनीय सौन्दर्ययुक्त वल्कलवसना मनोज्ञा शकुन्तला, दीप-शिखा इन्दुमती, कांचन-धर्मतामय **प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता** का साकार पार्वतीरूप, तन्वी श्यामा यक्षिणी आदि-आदि विभिन्न नारी रूपों में उन्होंने सौन्दर्य के उदात्तीकरण की सार्थक अभिव्यंजना प्रस्तुत की है। उन्होंने सौन्दर्य की सभी अवस्थाओं में अन्तरीण सौन्दर्य का दर्शन किया है और सौन्दर्य के सकाश से

ही अबोधपूर्व स्मृति और वासनागत संस्कार द्वारा मनोवैज्ञानिक अवचेतनावाद की पृष्ठभूमि में रसात्मक सौन्दर्य का अवगाहन कराया है। साधर्ममूलक उपमा प्रभृति अलंकारों के माध्यम से उपमाओं के मूल-रहस्य वासनालोक द्वारा कवि ने वास्तविक नारी के अवलम्बन से अंतस्थ वासनामयी नारी-मूर्तिका उद्दीप्त रूप प्रस्तुत किया है और उसी को गति पर गति, राग पर राग और आनन्द पर आनन्द के रूप में प्रकट किया है। झिलमिलाते हुये झीने अवतरण की भाँति कवि ने अपनी भावमाला चित्रात्मकता के ललित परिधान में प्रस्तुत की है। महाकवि ने अपने सम्पूर्ण काव्य-भंडार में चाक्षुष चित्रों की पूरी चित्रमाला प्रस्तुत कर दी है जो मानस-मूर्ति के साथ-साथ सजीवता एवं ऐन्द्रिकता से भी पूर्ण है। सौन्दर्य के मर्मविद् उपासक कालिदास ने चाक्षुषक्रतु की सज्ञा द्वारा सौन्दर्य-संवेदना को अभिव्यक्त किया है। नारी-सौन्दर्य के अनूठे चित्र कालिदास ने प्रस्तुत किये हैं। पार्वती के सौन्दर्य-निर्माण में सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चय का रूपाधार विलसित हुआ है। विश्वसृज् सम्पूर्ण विश्व का सौन्दर्य एक ही स्थान पर देखना चाहते थे। अतः उन्होंने उपमाओं के समस्त द्रव्यों का समुच्चय करके पार्वती के रूप का निर्माण किया।[२] नारी-सौन्दर्य के संदर्भ में कालिदास ने मानस-विकारों का उदात्तीकरण किया है। कवि की चिन्ताधारा में प्रस्तुत सौन्दर्य असीम है। शकुन्तला अपरा स्त्रीरत्नसृष्टि है।[३] पार्वती का शरीर प्रकृत्या कुसुम-कोमलमृदु होने के साथ-साथ संसार का शाश्वत माधुर्य भी उसमें समाहित है।[४] पार्वती के देहगत सौन्दर्य को कवि ने मानों अपनी आत्मा ढाल कर मोहक से मोहक चित्र प्रस्तुत किया है। समग्र "कुमारसंभव" काम और प्रेम, सौन्दर्य और अध्यात्म का अद्भुत समन्वय है। वयःसन्धि का स्वाभाविक शृंगार मन को उन्मत्त करने वाला है, तूलिकारंजित मनोरम चित्र और सूर्यकिरणों से लसित अरविन्दवत् है।[५] उमा-मुख में प्रवेश पाकर सौन्दर्य-श्री मानों आह्लादक धर्म से कृतार्थ हो उठा है।[६] पार्वती के नखशिख सौन्दर्य के माध्यम से कवि ने सार्वभौम अंतरीण सौन्दर्य का दर्शन कराया है। नारी-सौन्दर्य के अयत्नज-निसर्ग-सौन्दर्य-दर्शी रूप का अवगाहन कराते हुए उन्होंने महिमा-मंडित रूप से उसे सजाया है। नारी का सौन्दर्य अंग-यष्टि का असम्भृत मंडन है। पार्वती का देह-सौन्दर्य त्रिलोक-सौन्दर्य के समान उदय हुआ शरीर-सौन्दर्य है। तपस्या का फल इससे बढ़कर नहीं है।[७] सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में कालिदास ने रूप को, नवयौवन को उभार कर सहृदयाह्लाद मनाया है। अलंकार-सज्जित रूप भी उन्हें प्रीतिकर है क्योंकि वह देहगत सौन्दर्य को अधिकाधिक कमनीय बनाने वाला है। स्तनांशुक, अपंग-विलास और मदिरालस नयनापांगों का सौन्दर्य भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हुआ है।[८] उनका सौन्दर्यदर्शन रूप-चित्रण के साथ-साथ महनीय गुणों से समन्वित है।

नारी-सौन्दर्य के प्रसंग में कालिदास की समस्त नायिकाएँ सौन्दर्यदृष्टि के अनुकूल उपदानों से संगृहीत है। दीपशिखा इन्दुमती इतनी चारु है कि कवि की

सौन्दर्य-दीपशिखा सर्वतः आलोकित हो उठी है। दीपशिखा-सदृश इन्दुमती का रूप, रंगरूप, गति, स्पर्श सभी इन्द्रीय गुणों से युक्त होते हुए भी कवि की मानस-मूर्ति और अन्यान्य अनुभूतियों को वहन करने वाले हैं।[९] कवि की अखण्ड चेतना से उद्‌भूत इन्दुमती सम्पूर्ण अवयवों से सम्पन्न और ज्योति के अर्कालोक से आपूर्ण है। यहाँ भी कवि ने विधाता की रचना के अपूर्व कौशल के सकाश में कवि-कलाकार की ओर संकेत किया है। राजाओं के अन्तःकरण को अपनी रूप-श्री से अपने साथ ही ले जाने वाली इन्दुमती अखंड सौन्दर्य के आकर्षण और माधुर्य से आलोकित है।[१०] रूप-सौन्दर्य की लालित्य-पूर्ण अभिव्यक्ति में विश्वात्मा की सजनेच्छा को कालिदास ने सुशोभित किया है। विवहोपरांत अज और इन्दुमती की दर्शनोत्सुका सुन्दरियों का व्यस्त ससंभ्रम सौन्दर्य-चित्रण भी कवि की तूलिका से चारुतम हो उठा है। गवाक्ष को अंग-रंग से रंजित करके दौड़ने वालीं, दक्षिण नेत्र को ही अंजन-सुशोभित करके गवाक्षोन्मुखी सान्द्रकुतूहला स्त्रियों ने उस सौन्दर्य के दर्शन के लिए मानों गवाक्ष में कमल सुसज्जित कर दिये थे एवं नेत्रों द्वारा अज का रूप-पान करने के लिए मानों उनकी समस्त शक्ति आँखों में आ बसी थी।[११] चाक्षुष मूर्तियों और नेत्रों द्वारा रूप-पान के प्रसंग में महाकवि ने मनोहर मानस-मूर्तियों के माध्यम से सम्पूर्ण इन्द्रियों को रस-लाभ से चिरतृप्त किया है। रूप और रग के माध्यम से मानस-प्रत्यक्षीकरण का विलक्षण सौन्दर्य निखर उठा है। रस-चेतना को विस्तृत गम्भीर और दीप्त बनाने के लिए कवि ने अनेकानेक मानस-मूर्तियों में रंग भरे हैं। सनद्ध-मनोज्ञ-पल्लविनी[१२] लता की भाँति गर्भिणी सुदक्षिणा का सौन्दर्य भी कवि की प्रेय-विमडित श्रेयस्विनी कला का परिचायक है।

निसर्ग-कन्या शकुन्तला द्वारा कवि ने भू से द्युलोक तक अखंड सौन्दर्य का विशाल चित्रफलक प्रस्तुत किया है। उदात्त प्रेम के सौन्दर्य की स्वरलहरियों को विश्व-संगीत के साथ मिलाकर प्रस्तुत किया है। शकुन्तला में उन्मद आकर्षण पर मंगल-मय वत्सलता का जय-भाव चित्रित हुआ है। कवि की अन्य सौन्दर्य-प्रतिमाओं की भाँति शकुन्तला भी कवि की मानसी सृष्टि है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कवि के ध्यान में आए हुए रूप में प्राण उड़ेल दिये गये हैं और वह विधाता की रचना नहीं रह गई है।[१३] शकुन्तला के सौन्दर्य-चित्रण में कवि ने सूक्ष्म आदर्श कल्पना का आश्रय लिया है। वह प्रभातरल कांति है जो मानुष-लोक में सम्भव नहीं है।[१४] शकुन्तला का अव्याज मनोहर वपु है।[१५] वल्कल-वसना मनोज्ञ शकुन्तला की आकृति सर्वातिशायी मनोरम है।[१६] उसका सौन्दर्य जनाघ्रात पुष्प, अस्पृष्ट-नख-पत्र, अनाविद्ध-रत्न, अनास्वादित नवमधु, अनाभोग्य फल है।[१७] निश्चयैव कवि की कला विलासमयी कल्पना की चारुता एवं सहज गुणों की विवृत्ति की ओर उन्मुख रही है। वर्ण-प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य, लक्षण, छाया और सौभाग्य के मुखरित रूप में शाकुन्तल चरमोत्कर्ष पर है।

चलापांग दृष्टि से शकुंतला के सौन्दर्यरस का पान करने वाले कृती भ्रमर के भाग्योत्कर्ष से दुष्यन्त का वचनाभाव विलक्षण रूप में प्रकट हुआ है।[१८] कवि की निसर्ग-सौन्दर्य-दर्शिनी दृष्टि का आधा सौभाग्य एवं आनन्द की सिद्धि रहा है। सौन्दर्य-बोधात्मक ललित धारणाओं का अभिज्ञान हम शकुंतला में पाते हैं। कालिदास की रचनाप्रक्रिया का यही मूलाधार है। सौन्दर्य-चित्रण के प्रसंग में अन्वयन-कौशल और अन्यथाकरण द्वारा चित्रकृतियों में लावण्य की सूक्ष्म रेखाओं का अंकन कालिदास को अभीष्ट है। चित्र में जो कुछ साधु नहीं होता उसका अन्यथाकरण तो करना पड़ता है, जितना चित्र में उपलब्ध है उसमें कुछ और सन्निविष्ट करना पड़ता है।[१९] यही रचनाकार के रचनाकौशल का वैशिष्ट्य है। चित्र में अंकित शकुंतला विभ्रम-विलास की तरल कांतिधारा के सदृश है।[२०] चित्र होते हुए भी जीवन्तता में उसका साम्य नहीं है। चित्रात्मकता की गतिशीलता सौन्दर्य के सूक्ष्म उपादानों से संग्रथित हुई है। मर्त्यलोक के चिरचंचल सौन्दर्यमय पूर्वराग से स्वर्गगत तपोवन में शाश्वत आनन्दमय उत्तर मिलन तक नाना रागिणियों के आरोह-अवरोह कवि की सौन्दर्य-वीणा में झंकृत हुए हैं।

"विक्रमोर्वशीयम्" में भी कवि विधाता की सौन्दर्य-निर्माण कल्पना पर आशंका प्रकट करता रहा है। उर्वशी की रचना कामदेव ने ही की होगी; विषयोपभोग कुतूहल से परांगमुख ब्रह्मा उस आकृति के रचनाकार नहीं हो सकते।[२१] उर्वशी की देह-यष्टि आभूषणों की भी आभूषण है। शृंगार की सामग्रियों का भी शृंगार[२२] सौन्दर्य के इस नैसर्गिक चित्रण के क्रम में कालिदास की उर्वशी का सौन्दर्य भी अन्याय नायिकाओं के सौन्दर्य-चित्रण की भाँति आत्मा की अंतरीण सहज अनुभूतियुक्त आनन्दमय सौन्दर्यानुभव का हेतु है।

"मालविका" का अतुलनीय सौन्दर्य, अभिनय-व्यंजित अंगयष्टि का सौष्ठव, नृत्य की अभिराम लास्यभंगमाएँ जहाँ प्रेक्षकों को सुतरां मुग्ध करने वाली हैं वहीं नृत्यभंगी से ईषदुन्नीत स्थिर मालविका का देहाविन्यास विलक्षण सौष्ठव से व्यंजित हुआ है।[२३] मालविका के नृत्याभिनय के माध्यम से विभिन्न रसों का तन्मयीभवन, भाव, चेष्टाएँ सम्पूर्ण अंग-सौन्दर्य के चाक्षुष आधार से प्रारंभ होकर मानस-चित्र की सूक्ष्मतर परिणति तक अन्य विषयोपराग से चित्त हटाने वाली सिद्ध हुई हैं।[२४] नारी-मूर्ति के चित्रण द्वारा हृदय की नाना भंगिमाओं का अंकन कवि की विलक्षण सौन्दर्य-दृष्टि का परिचायक ही कहा जायगा।

अमर प्रणय का विरह-काव्य "मेघदूत" सौन्दर्य के स्थूल भोग से समन्वित मानस के आध्यात्म निर्भर का रसस्रोत है। कांताविश्लेपित यक्ष की आकांक्षाओं का केन्द्र-बिन्दु ही सब युवतियों में प्रथम विधाता की प्रथम सृष्टि है,[२५] अनंत सौन्दर्य की राशि है। मेघदूत का सम्पूर्ण रूप-संपादन अंततः अंतरतम को रसतृप्त कर देने वाला शाश्वत आधार-बिन्दु है। नारी-सौन्दर्य के साथ-साथ प्रकृति में मानवीकरण द्वारा विरहिणी नदियों की शृंगार-चेष्टाओं से नायिकाओं एवं मेघ के साथ उनके

संयोग के सुन्दर रसाभ्यन्तरमय चित्र खींचे हैं। अलका की समस्त यक्षणियाँ सुन्दर हैं, उत्तम हैं, ललित वनिताएँ हैं।[26] सम्पूर्ण चेतन-जगत् में चेतना के उत्कृष्ट केन्द्र नारी-सौन्दर्य-वर्णनों से सम्पूर्ण मेघदूत काम का राग-रंजित संदेश वितन्वन करता परिलक्षित हुआ है। तुषारावृत शिखरों में बसी अलका का सौन्दर्य भी विलासगत प्रिया के सौन्दर्यवत् चित्रित हुआ है।[27] मणिमय पर्वत के शिखरों की भित्तियों पर इन्द्रधनु की छाया में पुष्पसायक-राग को भी सौन्दर्य की सूक्ष्म रेखाओं के प्रणय-संभार द्वारा कवि ने ललित वनिताओं के तंत्रीनाद से तरंगायित वातावरण में प्रस्तुत किया है। उन ललित-वनिताओं के मंडनप्रिय स्वभाव, **स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः** के सन्दर्भ में अलकाकामिनियों की कमनीयता और आपानकों का मदिर-वैभव भी कवि ने चित्रित किया है। नारी-सौन्दर्य के चित्रण में प्रायः सभी ग्रन्थों में कालिदास ने प्रसाधन-प्रक्रिया का भी परिचय दिया है। प्रिय-मंडना शकुंतला के प्राकृतिक आभरणों से लेकर कनकाभरण, लाक्षारस, अलक्तकादि केश-प्रसाधन गन्ध-युक्त अनुलेपन, अंगराग आदि द्रव्यों की लम्बी चर्चा द्वारा नारी-सौन्दर्य तथा सौभाग्य को द्विगुणित महत्ता प्रदान की है। आभिजात्य विलासितामय सौन्दर्य के प्रकरण में, किंवा तपोवनीय सौन्दर्य-चित्रण के प्रसंग में कालिदास की सौन्दर्य-दृष्टि विलक्षण कही जाती रही है। नारियों के मंडन सम्बन्धी कल्पना-प्रयासों को व्यर्थ करने वाले कल्पतरु की कल्पना द्वारा कवि ने उसकी अनन्त देयता के माध्यम से सौन्दर्य के शाश्वत रूप की ओर संकेत किया है।[28] कालिदासीय सौन्दर्य परम्परा में ये प्रसाधन पवित्र और मंगलकारी हैं।[29]

कालिदास का समग्र कृतित्व प्रेम की भूमि पर अवस्थित होकर समष्टि-प्रेम व शाश्वत-सौन्दर्य का अमर उद्‌गीथ है। स्त्री और पुरुष को प्रेम की शाश्वत भूमिका पर रखकर **'प्रियेषु सौभाग्य-फला हि चारुता'** का अवदान प्रस्तुत किया है। उद्‌दाम शृंगार से भरे ललित मधुर प्रसंगों में भी कवि का कला-विलास यौन-आकर्षण के मनोमुग्धकारी मंगलनिरपेक्षरूप में व्यक्त हुआ। उनके रूप-वर्णन का एक ही लक्ष्य है—प्रेमी में उस शक्ति की प्रतिष्ठा जो प्रिय को सहज ही आकृष्ट कर सके। अत्यन्त उच्छल श्रांगारिक वर्णन के प्रसंगों में भी कालिदास उस बात को नहीं भूले हैं। उनके मत से मदन या मन्मथ द्विधाभूत शक्तियों का आश्रय है। एक ओर तो वह अंग-अंग में व्याप्त मंगल-निरपेक्ष यौन-आकर्षण है, रूप उसका सहायक वनकर निंदनीय होता है।[30] वासना से प्रारम्भ होने वाले अनुराग की परिणति और पूर्णता अंततः प्रेम में होती है। संयोग के उद्‌दाम प्रणय-भरे ललित चित्रों और विप्रलम्भ के मनोरम सौन्दर्य-भरित भावों से कालिदास-काव्य की रंग-शाला सज्जित है जिसकी परिणति निसर्ग-सौन्दर्य के देश से मंगल-सौन्दर्य के अक्षयधाम में होती है। सच्चे सौन्दर्य का समाधिस्थ रूप कवि ने प्रस्तुत किया है तथा प्रेम और काम के शिवत्वमय रूप की सिद्धि चित्रित की है। निष्काम कलुषवृत्ति से दूर[31] प्रिय के प्रति सौभाग्य का उद्रेक ही रूप-सौन्दर्य का वास्तविक

फल है।[१२] सौन्दर्य को तप की अग्नि में तपाकर दिव्य प्रेम की गाथा[१३] कुमार-संभव में चित्रित हुई है। शृंगार के परपोष्य काम का चित्रण रस-प्रवाह और परिणति में सुन्दरता के समस्त प्रतिमानों को लेकर प्रस्तुत हुआ है।। काम के प्रसंग में महाकवि ने बड़ी सुन्दर ललित भाषा में यौनाकर्षण के मंगल-निरपेक्ष मोहमय मदोद्धत रूप का वर्णन किया है। जीवन की सभी कामनाओं का सर्वस्व कामदेव कवि के सौन्दर्य-दर्शन की चेतना का मधुर आधार बना है। शिव और पार्वती को सनातन पुरुषत्व और स्त्रीत्व का प्रतीक बनाकर विशुद्ध प्रेम व सौन्दर्य की व्यंजना कालिदास को काम्य है। वसंत-पुष्पाभरणधारिणी पार्वती का भौतिक सौन्दर्य काम के उन्मद आकर्षण से क्षणभर को शिव को विचलित करता है। अंततः इंद्रियजयी की सत्वस्थ मनोवृत्ति मदनदहन से आकर्षणजन्य प्रेम को क्षार कर देती है। तपस्विनी वेश में ब्रह्मचारी शिव के दर्शन मात्र से वेपथुमती पुलकायमान पार्वती का बड़ा सुन्दर सजीव शब्द-चित्रण कालिदास ने प्रस्तुत किया है।[१४] प्रेम और सौन्दर्य के माध्यम से ही व्यथित मानव के अंतस्थल में उद्देलित तरंगों से विश्वव्यापी प्रेम और सौन्दर्य की सृष्टि को कालिदास की सौन्दर्य-दृष्टि का अवदान कहा जा सकता है। "तपस्या से तप कर विशुद्ध प्रेम द्वारा व्यंजित यही सौभाग्य-धर्म कालिदास के सौन्दर्य वर्णन का लक्ष्य है।[१५]" सर्वव्यापी शृंगार में यौवन-पीड़ा के मध्य मिलनोत्कंठिता को विन्यस्त करके उसे मर्यादित रूप में ही कालिदास ने प्रस्तुत किया है।

प्रेम का देवता नवयौवना स्त्रियों के शरीर में निवास करके उनके सौन्दर्य को द्विगुणित बना देने वाला है। शकुंतला में भी रूप के उन्मद आकर्षण का विरह के ताप से परिष्करण दिखाया गया है। सौन्दर्य-चित्रण-प्रसंग-क्रम में कालिदास ने अपनी चित्रात्मकता की परिकल्पना को भी परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया है। विद्धचित्र और रसचित्र[१६] के प्रसंग द्वारा कलाकार की अन्तरवेदना का संकेत कालिदास के सौंदर्य-चित्रण मे हम पाते हैं। दुष्यन्त के द्वारा बनाया गया शकुंतला का चित्र विभ्रमविलास की तरल कान्तिधारा से युक्त सजीव चित्र है। सजीव रस-चित्र और प्रेम का सौन्दर्यमय रूप मालिनी नदी के तट पर हरणी और हरिण के चित्रांकन में हम पाते हैं।[१७] मालविका का नृत्य तरंगित देह-यष्टि का सौन्दर्य भी इसी रूप-चित्रण का परिचायक है। प्रेम के संदर्भ में विरह-व्यथित सौंदर्य का चित्रण मेघदूत में सुन्दरतम रूप में चित्रित हुआ है। प्रियतम के उत्संग में बैठी अलका का सौंदर्य-वर्णन करने में भी कवि विमुख नहीं हुआ है।

विरह-विधुर यक्ष जिन संभोग-मुद्राओं के स्मरण से विचलित हो उठा है वे संयोग-काल में उसके रतिजन्य आनन्द को ही बढ़ाने वाली हैं। विप्रलब्धावस्था में सदृश वस्तुओं में यक्ष के नेत्र प्रियतमा यक्षणी के चंचल अपांगों, केशकलापों की छटा, भ्रू-विक्षेपों को खोजते फिरते हैं।[१८] स्वप्नज संभोग की उत्कट अभिलाषा वाले यक्ष-यक्षिणी अशिथिल परिरम्भ-सुख के सुकुमार सौन्दर्य-वृत्त से मंडित हुए

हैं।[39] रूप सौन्दर्य का चाक्षुप साक्षात्कार कराने वाली भाव-विभोर अवस्था अश्रुभरित नेत्रों से अवरुद्ध होने के उपरान्त भी अधिकाधिक रस-पुष्टि करने वाली है। उत्कृष्ट व अनन्त सौन्दर्य-लक्ष्मी को अपने प्रमाद से भी वंचित करने वाले यक्ष की कल्पना-शक्ति बाह्य उपमानों में प्रियतमा का सादृश्य समवेत रूप में न पाने पर चित्र-प्रतिकृति के रूप में तीव्रतर हो उठती है और शिला-पट्ट पर धातु-राग-रंजित यक्षिणी का चित्र अश्रु प्रवाह से धूमिल हो उठता है।[40]

विरह-विधुर वेदना मर्म-स्थल को और भी द्रवीभूत कर देती है। स्मर-दशाओं से पीड़ित अनादरण-युक्त यक्षिणी का सौन्दर्य-वर्णन भी कवि की दृष्टि से विस्मृत नहीं हुआ है। यक्षिणी घटते-घटते चन्द्रमा की कला की भाँति रह गयी है। यौवन और शृंगार से परिपूर्ण काव्य मेघदूत में रूप की प्रतीति द्वारा विचारों का मूर्तीकरण और भावना का सौन्दर्यमय रूप व्यंजित हुआ है। मेघदूत में मणि-हर्म्यों की कुट्टिम-भूमि पर अविराम भाव से विन्यस्त तारकावली की छाया, दिव्य प्रेमिक युगलों का अवस्थान, पुष्कर वाद्य के गम्भीर निर्घोष की पृष्ठिभूमि में नृत्यरता अप्सराओं के कंकण-वलयों का रणत्कार, नूपुर मेखलाओं की झंकृतियाँ और अनायास-लब्ध मादक आसव का चषक सौन्दर्य को सर्वत्र छलकाता प्रतीत होता है। चूर्णमुष्टियों से विफल प्रेरण वाले रत्न-प्रदीप वीणा-व्याकुला प्रियतमाओं के लाज-सौन्दर्य में शतगुणी अभिवृद्धि करने वाले बन जाते हैं।

कालिदास ने अपने नारी-सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में सर्वास्ववस्थासु अनवद्यता स्वरूप की चर्चा करते हुए सौन्दर्य-दृष्टि की सम्वेदनात्मक सत्वस्थ मनोवृति को चित्रित किया है। सौन्दर्य के उदात्तीकरण की प्रक्रिया में "कालिदास ने प्रेम के साथ तपस्या का, सुकुमारिता के साथ सुशीलता का, मानसिक मृदिता के साथ चारित्रिक दृढ़ता का, अपार वैभव के साथ विपुल वैराग्य का अर्थात् सौन्दर्य के साथ धर्म का मणिकांचन योग किया है—यहाँ रूप-शक्ति भस्म होती है तथा तपस्या-शोधित कान्तिमय प्रेम उदित होता है। इस तरह तपस्या की अग्नि से शोधित सौन्दर्य का आकर्षण उदात्त हो जाता है। यही श्रेष्ठ सौन्दर्य अर्थात् उदात्त सौन्दर्य है।"[41] सौन्दर्य के सकाश से ही अबोधपूर्व स्मृति और वासनागत संस्कार द्वारा मनोवैज्ञानिक अवचेतनावाद की पृष्ठभूमि में रसात्मक सौन्दर्य का अवगाहन कालिदासीय सौंदर्य-दृष्टि का मूलाधार है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

शाकुन्तल (५—२)

द्रष्टा द्वारा सौंदर्य-बोध से उत्पन्न आनन्द के अनुभव की चर्चा कालिदास ने की है। सौंदर्य से एक ओर संस्कारों का उद्बोध-ज्ञान होता है, दूसरी ओर उद्-

बोधक सामग्री की प्रतीति बनी रहती है। बाह्य जगत् का सौंदर्य द्रष्टा के चित्त में भावमूर्ति की रचना कर अन्तर की वासना को उद्‌बुद्ध कर देता है। हंसपदिका द्वारा गाये जाने वाले गीत में दुष्यन्त की अन्तश्चेतना में शकुन्तला की अबोधपूर्व-स्मृति की जागृति और उसके द्वारा वासना का उद्रेक अतीन्द्रिय संस्कार के परियु-त्सुकी भाव को प्रस्तुत करके कालिदास ने बहिर्जगत् के रम्य और मधुर भाव के द्वारा रसास्वाद के अतीन्द्रिय आलोक को विकीर्ण किया है। बाह्य जगत् की सत्ता अबोधपूर्व स्मृति को तीव्रतर बनाती है। काव्य-जगत् मानव की वासनामयी मूर्ति है। इसी वासना से नारी-सौंदर्य और सुन्दरतर हो उठता है।

सौंदर्य और प्रेम के मर्मज्ञ गायक कालिदास ने नारी-सौंदर्य को महिमा-मंडित देखा है। काम के विवेचन से अध्यात्ममय सौंदर्य का उदात्तीकरण किया है। काम की विविध भंगिमाओं को रूपायित करने वाली नारी-मूर्तियों का सौंदर्य महाकवि की राग और सौंदर्य-व्यंजना को मुखरित करने में पूर्ण समर्थ रहा है। अपनी निसर्ग-सौंदर्य-दर्शनी दृष्टि द्वारा उन्होने सौंदर्य और सौभाग्य का शिवत्वमय रूप अभिव्यंजित किया है। सौंदर्य के सन्दर्भ में उद्‌दाम यौवन तथा तप के मांगल्य-विधायक धर्म संयुक्त किये हैं। उदात्त की पृष्ठिभूमि में सौंदर्य के ललित-मोहन रूप की साकार भंगिमा कालिदासीय सौंदर्य-दर्शन की उपलब्धि है। 'सुकुमारिता के साथ सुशीलता का, मानसिक मृदुता के साथ चारित्रिक दृढ़ता का, अपार वैभव के साथ विपुल वैराग्य का मणिकांचन योग संसार के साहित्य में विरल है"।[४२]

पुष्पधन्वा की प्रत्यंचा को चिर-संगीत के स्वर से अविछिन्न करते हुए विश्व-व्यापक छन्द-धारा के प्रसंग में उन्होंने सृष्टिगत-सौंदर्य को नाना वर्णों, गन्धों और रूपों में रूपायित किया है। सुन्दर के भीतर जो रहस्मय सत्य तथा अनिर्वचनीय तथ्य छिपा रहता है उसकी कल्पना हम कालिदासीय सौंदर्य-दर्शन में पाते हैं। उदात्त एवं शोभन के अनुपम चित्रकार की काव्यधारा सौंदर्य के बाह्य आडम्बरों से दूर कल्याण की कमिनीय दीप्ति से जगमगा उठी है। प्रेम और सौंदर्य के ललित रूप की साकार मूर्ति उनकी नायिकाओं का लावण्य विश्वकुतूहला की भाँति सर्वत्र परिव्याप्त हो उठा है। लोचनैः पीयमान रूप की चाक्षुप प्रक्रिया से प्रारम्भ होकर उनका सौंदर्य-दर्शन मानव-वृत्ति को संयमित और सर्वजयी बनाकर अमरत्व प्रदान करने वाले तत्त्व के रूप में प्रस्तुत हुआ है। उनका सौंदर्य अखण्ड अनुभूतिमय अतीन्द्रियता के आलोक में प्रखर मुखर हो उठा है। उनके सौंदर्य-दर्शन में शिवात्मक चैतन्य को परिपूर्णता व्यक्त हुई है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है जब तक द्युवलोक में सूर्य और चन्द्र का अस्तित्व है, मेघ का कामरूप मोहन पक्ष है, धरणी पर नगाधिराज का तपोमय शान्ति रूप और नगापगाओं का उच्छल गान है, प्रकृति के विभिन्न रंगभेद और सूक्ष्म छायातप हैं, जीवन और यौवन का उद्‌दाम आवेग है, विलासिनियों के भ्रूविलास एवं लास्यगति भंगिमाएं हैं विरह-विधुरा प्रणयी जनों का वेदनागान

है तब तक कालिदास का सौंदर्यकल्पतरु अक्षय शाश्वत है। उनके द्वारा प्रवाहित सुन्दर की उच्छलवेगवती धारा चित्त के तमस् को विलीन करती हुई सत्त्व के विशुद्ध आनन्दमय उद्रेक से मन को सिक्त बनाती रहेगी। अन्तर के कण-कण में स्पंदन का अंकन करने वाली उनकी सौंदर्य-चेतना-सौंदर्य को सांस्कृतिक प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित करने वाली रही है।

सन्दर्भ

१ डॉ० ऐस० एन० दासगुप्त, सौन्दर्य-तत्त्व पृ० ३९

२. सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥

कु० सं० १।४९

३. चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा।

अ० शा० २-९

४. ध्रुवं वपुः कांचनपद्मधर्मितं मृदुप्रकृत्या च ससारमेव च।

कु० सं० ५-१९

५. उन्मीलिततूलिकयैव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥

कु० सं० १-३२

६. उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः।

कु० सं० १।४३

७. अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयः।
तपः फलं स्यात् किमतः परं वद॥

कु० सं० ५।४१

८. करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः।

कु० सं० ५।४९

९. आर्द्रकेसरसुगन्धि ते मुखं मत्तरक्तनयनं स्वभावतः।

कु० सं० ८।७६

९. संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

रघु० ६।६७

१०. निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्राः देहैः स्थिताः केवलमासनेषु।

रघु० ६।११

११. रघुवंश ७।११-१२

१२. पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव संनद्धमनोज्ञपल्लवा।

रघु० ३-७

१३. स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे।
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ।।

अ० शा० २।९

१४. न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।
१५. इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः ।

अ० शां० १.१८

१६. किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।

अ० शां० २।१९

१७. अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादितरसम् ।।

अ० शा० १-१०

१८. चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि वहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करौ व्याधुन्वत्याः पिवसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ।।

।। अ० शा० १।२२ ।।

१९. यद् यद् साधु न चित्रे स्यात्
क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं
रेखया किंचिदन्वितम् ।। ।। शाकुन्तल, ६।१४ ।।
२०. दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं लीलाञ्चितभ्रूलतं ।।

शाकुन्तल-६

२१. अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ।

विक्रमोर्वशीय ।। १-१० ।।

२२. आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।

विक्रमोर्वशीय ।। २-३ ।।

२३. वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।
पादाङ्गुष्ठललितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्यादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ।।

मालविका० २-६

२४. भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ।

मालविका०, २-८

२५. तन्वी श्यामा शिखरि दशना पक्वविम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।

श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥
॥ उ० मे० १० ॥

२६. विद्युत्वन्त ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः ।
॥ उ० मे० १ ॥

२७. तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां ।
॥ पू० मे०, ६३ ॥

२८. लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्याः ।
॥ उ० मे०, १२ ॥

२९. सितांशुका मंगलमात्रभूषणा ।
विक्रमोर्वशीय, ३-१२

३०. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली—८-पृ० १७९
३१. यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये
न रूपमित्यव्यभिचारितद्वचः ।
कु० सं० ५-३६

३२. निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता । कु० सं० ५-१
३३(i) इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
कु० सं० ५-२

(ii) व्यर्थं समर्थ ललितं वपुरात्मनश्च ।
कु० सं०

३४. तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिः ।
कु० सं० ५-८५

३५. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली—८, पृ० १७८
३६. वही, पृ० १८९
३७. कार्या सैकतलीनहंसमिथुना ।
अ० शा० ६-१७

३८. श्यामास्वंगं चकितहरिणी—
उ० मे० २-४१

३९. सद्यः कण्ठच्युतभुजलता—
उ० मे०, ३४

४०. शांतिनिकेतन से शिवालिक, पृ० १७९
४१ ह० प्र० द्विवेदी ग्रन्थावली, पृ० १२५
४२. वही,

चमत्कार-सिद्धान्त : पुनर्विचार की आवश्यकता

—डॉ० रमेश चन्द्र लवानियाँ

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में 'चमत्कार' शब्द तो अत्यन्त प्राचीन है किन्तु सम्प्रदाय के रूप में उसकी स्थापना १४ वीं शताब्दी में आचार्य विश्वेश्वर ने की। आचार्य विश्वेश्वर ने 'ध्वन्यालोक' के समानान्तर 'चमत्कार-चन्द्रिका' की रचना कर 'चमत्कार' को काव्यात्मा के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया किन्तु उन्हें अपेक्षित मान्यता नहीं मिल सकी।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने चमत्कारवाद पर वक्रोक्ति के अन्तर्गत विचार किया है और उन्होंने अपने निष्कर्ष में कहा है कि "कुन्तक भी इसी व्यापक चमत्कार के काव्य के उपासक हैं। उनकी वक्रोक्ति इसी चमत्कार का पर्याय है। व्यापक अर्थ में रस, औचित्य, ध्वनि, वक्रोक्ति, समस्त काव्यसार ही चमत्कार रूप है।"[1] यह निष्कर्ष निकाल कर भी वे चमत्कार के व्यापक समर्थन का स्वतन्त्र प्रयास नहीं कर सके।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने डॉ० राघवन के अनुसार ही 'चमत्कार' शब्द के लिए साहित्यशास्त्र को पाकशास्त्र का ऋणी माना है। उनकी दृष्टि में "चमत्कार ध्वनि-निर्मित शब्द है और चटपटी चीज खाने के समय हम लोग अपनी चटपटी जीभ से ओठों को चाटते हुए जो चट्-चट् ध्वनि उत्पन्न करते हैं उसी के अनुकरण पर निर्मित यह 'चमत्कार' शब्द है।"[2] अपने उक्त कथन पर उन्होंने निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि "मधुर वस्तु के आस्वादन से चित्त का विस्तार या आनन्द।"[3] वस्तुतः यह निष्कर्ष पूर्णतः भ्रामक है। मधुर वस्तु के आस्वादन में चट् की ध्वनि उत्पन्न नहीं होती है। रस और चमत्कार का यही अन्तर है। मधुर वस्तु का आस्वाद रस है और चटपटी चीजों का आस्वाद चमत्कार है, इसलिए रस और चमत्कार भिन्न प्रकार के आनन्द हैं। रसगुल्ला का आनन्द रस है और चटपटे दही-बड़े का आनन्द चमत्कार है। दोनों ही भिन्न कोटि के आनन्द हैं और दोनों को एक मानना सर्वथा अनुचित है।

यद्यपि पाकशास्त्र से ही चमत्कार का उद्भव मानने पर भी वह रस से भिन्न कोटि का आनन्द प्रमाणित हो जाता है किन्तु यह सूक्ष्म और गम्भीर विवेचन की कमी ही है। वास्तव में 'चमत्कार' शब्द का कामशास्त्र से भी उतना ही सम्बन्ध है जितना पाकशास्त्र से। 'रस' शब्द को भी कतिपय आचार्य कामशास्त्र से जोड़ते हैं और अन्य पाकशास्त्र से।

शैव सम्प्रदाय में इस सृष्टि को भगवान् शिव का चमत्कार कहा गया है। भगवान् शिव के मन में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होते ही 'काम' का जन्म हुआ

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग २, पृ० ३५/७

२. उपरिवत्

३. उपरिवत्, पृ० ३५८

और तब 'चमत्कार' के रूप में सृष्टि बनी। भारतीय दर्शन की इस मान्यता को पूर्णतः अनदेखा नहीं किया जा सकता। सिसृक्षा का परिणाम ही चमत्कार हो जाता है।

कामशास्त्र और रस के प्रथम आचार्य नन्दिकेश्वर माने गये हैं और मान्यता यह है कि वे भगवान् शिव के नन्दी से अभिन्न हैं। नन्दी ने शिव और पार्वती के सम्भोग को देखा था और इसीलिए वे कामशास्त्र के आचार्य बन सके। नन्दी ने केवल श्रृंगार-रस की ही स्थापना की। 'चमत्कार' के सम्बन्ध में ऐसी किसी मान्यता की चर्चा नहीं है! आचार्य नन्दिकेश्वर का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता है, इसलिए केवल अनुमान से ही कुछ कहा जा सकता है। कामशास्त्र का आचार्य रस और चमत्कार के आनन्द की भिन्नता को अवश्य समझता होगा। आयुर्वेद में रस का अर्थ 'पारद' है और शैवों में पारद को भगवान् शिव का वीर्य माना गया है। पाकशास्त्र में मधुर आस्वाद रस है। रस का सम्बन्ध स्पष्टतः ही पुरुष के आनन्द से है। भारतीय पाकशास्त्रीय मान्यता के अनुसार भी मधुर आस्वाद का सम्बन्ध पुरुष से और चटपटे आस्वाद का सम्बन्ध नारी-वर्ग से है।

वस्तुतः पुरुष और नारी के कामशास्त्रीय आनन्द में भी भिन्नता है। नखक्षत, दन्तक्षत, आलिंगन आदि में नारी की सीत्कार ही चमत्कार है जिसकी चरम-परिणति सम्भोग की अवस्था में होती है। चटपटी वस्तुओं के आस्वाद की चट्-चट् और सम्भोग की अवस्था की सीत्कार समान ही अर्थ देते हैं। इस प्रकार चमत्कार और रस की स्पष्ट भिन्नता दिखाई पड़ती है। अवश्य ही आचार्य नन्दिकेश्वर ने रस का सम्बन्ध नाटक से माना होगा। इसी परम्परा को आचार्य भरतमुनि ने विकसित किया। अभिनवगुप्त से पूर्व तक के आचार्य भी रस का सम्बन्ध नाटक से ही मानते थे, इसीलिए उन्होंने काव्य में रस की चर्चा नहीं की।

आचार्य अभिनवगुप्त शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे, इसलिए उन्होंने रस को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। किन्तु चमत्कार को वे नगण्य न ठहरा सके। उन्होंने काव्यास्वाद और आह्लाद-सामान्य के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। (अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र ने 'कविकण्ठाभरण' की द्वितीय सन्धि में चमत्कार को काव्य का मुख्य तत्त्व माना है। "अङ्गना का यौवन लावण्यहीन होने से क्या किसी के चित पर चढ़ता है? दोष के लेश से भी रहित सुन्दर-पद-विशिष्ट काव्य क्या चमत्कारहीन होने पर किसी सहृदय को आकृष्ट करता है? कभी नहीं। चमत्कार ही काव्य का सर्वस्व है।")

पण्डितराज जगन्नाथ ने **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** कहकर रमणीय की व्याख्या चमत्कार पर आधारित होकर ही की है—"**रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं च आह्लादगतः चमत्कारापरपर्यायः अनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।**

आचार्य विश्वेश्वर ने 'चमत्कार-चन्द्रिका' में रस को पूर्ण महत्त्व प्रदान किया है। उनकी दृष्टि में काव्य में सौन्दर्य रस के द्वारा ही उत्पन्न होता है:—

तदन्वयेन काव्यश्रीः कमनीयत्वमश्नुते ।[1]

आचार्य विश्वेश्वर ने रस के लिए शैवागमों की मान्यता को ही स्वीकृति प्रदान की है। उनके अनुसार शिव अष्टमूर्ति हैं और रस शिव से ही उत्पन्न है, इसलिए रस भी आठ होते हैं—

"शिवो रस इति प्रोक्तस्सत्यं भावकसत्तमैः ।
न चेल्लोकोपकाराय कथमस्याष्टमूर्तिता ॥
अष्टधा स च शृङ्गारहास्यौ वीराद्भुतौ पुनः ।
द्वन्द्वशो रौद्रकरुणौ तो वीभत्सभयानकौ ॥[2]

उन्होंने शृङ्गार को रसराज की मान्यता ही प्रदान की है जो नन्दिकेश्वर से चली आती परम्परा की ही पुष्टि है।

आचार्य विश्वेश्वर ने रस की महत्ता को गौण न करके भी उन्होंने रस को चमत्कार का आलम्बन ही माना है। उन्होंने गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शैया और अलंकार को चमत्कार का कारण रूप ही स्वीकार किया है:—

"चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत् ।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलंकृतिम् ॥
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः ।"[3]

पुनः हम एक बार वापस लौट कर चलें तो पायेंगे कि भामह से पूर्व शब्द और अर्थ को अलग-अलग काव्य मानने की दो परम्पराएँ विकसित रही होंगी। कुछ आचार्य शब्द को काव्य मानते होंगे और कुछ अर्थ को। यह चमत्कार और रस का द्वन्द्व था। इस द्वन्द्व को समाप्त करने की दृष्टि से ही भामह ने कहा होगा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। रुद्रट ने इसीलिए 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' कहकर उस परम्परा को अग्रसर किया होगा।

वस्तुतः काव्य का चमत्कार शब्द और अर्थ दोनों के माध्यम से आता है किन्तु काव्य में शब्द के पर्यायवाची सम्भव नहीं हैं। 'पंकज' और 'नीरज' दोनों का अर्थ कमल है किन्तु दोनों के अर्थ में भिन्नता है। पंक में जन्मा कहने में जो चमत्कार है वह 'नीरज' में नहीं हो सकता। मम्मट ने अपने काव्य-प्रयोजन में अभिनव गुप्त के 'जायासंमितत्वलक्षणविशेष' के स्थान पर 'कांतासम्मिततयोपदेशयुजे' कहकर जो चमत्कार उत्पन्न किया है, उससे शब्द का महत्त्व स्थापित हो जाता है। शब्द ही अर्थ का चमत्कार उत्पन्न करने में सक्षम है। 'कांता के समान उपदेश' में सुन्दर नारी का कटाक्ष-विक्षेप के साथ दिया गया उपदेश है जो 'जाया'

१. P. Sarasvat Mohan, *The Chamatkārachandrikā*. p. 107
२. उपरिवत्
३. उपरिवत् पृ० २

शब्द से नहीं आ सकता।

शब्द और अर्थ को भिन्न नहीं माना जा सकता। कालिदास ने शिव और पार्वती की अभिन्नता के द्वारा शब्द और अर्थ की अभिन्नता को प्रस्तुत किया है। तुलसीदास ने 'गिरा अरथ जलवीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' के द्वारा जल और लहर का सम्बन्ध बताया है। शैव दर्शन में शिव और शक्ति का सम्बन्ध भी ऐसा ही है। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। काव्य माँ भगवती ललिता का प्रसाद होने के कारण चमत्कृत ही करता है। वह चमत्कार 'नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर खेलन आइयो होरी' जैसा हो अथवा 'मोहन मांग्यो रूप' जैसा। प्रथम चमत्कार तो स्पष्ट ही है। दूसरे में जो स्वयं 'मोहन' था वह अपना रूप वापस माँग रहा है। यहाँ मोहन शब्द का ही अर्थ-चमत्कार है। शब्द माध्यम है—चमत्कार अर्थ का ही है। इसे व्यंजना आदि के आधार पर समझाया जा सकता है, किन्तु ध्वनि अथवा व्यंजना माध्यम है अर्थ समझने का। आस्वाद तो चमत्कृति का ही है। ध्वनि आदि का कार्य परागन का है और फल तो चमत्कार ही है।

नाटक आदि में शब्द का उतना महत्त्व नहीं है। वहाँ नट-नटी के संवाद, रूप-लावण्य, कटाक्ष-विक्षेप, भौंह-संचालन आदि हाव-अनुभाव का भी महत्त्व है। चमत्कार नाटक में भी उत्पन्न हो सकता है किन्तु गौण रूप में। काव्य में चमत्कार की ही प्रमुखता है। कवि-सम्मेलन में वाह-वाह की ध्वनि चमत्कार के कारण होती है। वियोग-वर्णन में अतिशयोक्ति और ऊहा का वर्णन चमत्कार के लिए ही किया जाता है। प्रबंध-काव्य नाटक के समान रसात्मक होते हैं किन्तु मुक्तक काव्य चमत्कार से ही परिपूर्ण होता है।

वस्तुतः परवर्ती काल में चमत्कार का संकीर्ण अर्थ लिया जाने लगा। नारायण पण्डित ने विस्मय का अर्थ लेकर अद्भुत रस को महत्व प्रदान किया। सूक्ति और शब्दालंकारों के महत्त्व को प्रतिपादित करने में ही चमत्कार माना जाने लगा जिससे इस सिद्धान्त को बहुत हानि हुई।

वस्तुतः काव्य माँ भगवती ललिता के प्रसाद-स्वरूप मनुष्य को मिला है। सत्पुरुषों के हृदय में निवास करने वाली ललिता शक्ति ही मनुष्य को काव्य-रचना करने के लिए प्रेरित करती है, इसीलिए उसके विभिन्न नामों में कलानिधि, काव्यकला, रसज्ञा और रसशेवधि भी है। माँ भगवती के प्रसाद से प्राप्त काव्य का आनन्द चमत्कृत करने वाला ही होना चाहिए। माँ भगवती अर्थस्वरूपा है और भगवान् शिव शब्द स्वरूप। इसलिए चमत्कार तो अर्थ का ही होता है। शब्द-चमत्कार तो कलारूप हो सकता है। शब्द माध्यम है। शिव के बिना माँ ललिता की कल्पना करना भी अपराध है, इसीलिए 'शब्दार्थ का समन्वय अनिवार्य है। इस दृष्टि से चमत्कार-सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता है। सभी मानक गणों से मैं आशा करता हूँ कि वे चमत्कार की पुनर्व्याख्या में प्रवृत्त होंगे।

काव्यानन्द तथा चमत्कार

—डॉ० कृष्णकान्त शुक्ल

काव्य का चरम लक्ष्य 'सद्यः पर निर्वृति' सर्वमान्य है। काव्यानन्द लोकोत्तर अनुभूति है। लौकिक अनुभूति व्यक्तिसापेक्ष होती है। उसमें ममत्व, परत्व और तटस्थत्व की प्रतीति स्पष्ट रहती है। वह सुख, दुःख, मोह से सम्बद्ध रहती है, परन्तु काव्यास्वाद अथवा काव्यानन्द इन सबसे विलक्षण होता है।

काव्यानन्द के समुन्मेषक तत्त्व क्या हैं? इस पर भारतीय समीक्षकों ने बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया है। भारतीय समीक्षाशास्त्र के सभी सम्प्रदायों ने इस पर विचार किया है। वह कोई अलोकसामान्य तत्त्व है जो काव्यानन्द की अनुभूति में प्रमुख है। उसे ही चमत्कार कहते हैं। 'चमत्कार' प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार्य को अभीष्ट है। अलङ्कारवादियों के लिए अलङ्कार, रीतिवादियों के लिए रीति, ध्वनिवादियों के लिए ध्वनि, रसवादियों के लिए रस, वक्रोक्तिवादियों के लिए वक्रोक्ति और औचित्यवादियों के लिए औचित्य—सभी 'चमत्कार' पदवाच्य हैं। वस्तुतः विना चमत्कार के काव्यानन्द की अनुभूति सम्भव नहीं है। वह चमत्कार ही है, जो सामान्य शब्द और अर्थों में एक विलक्षणता का सञ्चार कर देता है।

विश्वेश्वर कविचन्द्र ने अपनी **'चमत्कार-चन्द्रिका'** में चमत्कार के स्वरूप की विवेचना करते हुए लिखा है—**"चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।"** सहृदयों के हृदयाह्लादक तत्त्व को चमत्कार कहते हैं। उस चमत्कार की परिधि बड़ी व्यापक है। गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, पदशय्या, अलङ्कार—इन सात अङ्गों से युक्त काव्य सप्ताङ्गयुक्त[1] साम्राज्य की भाँति सुशोभित होता है—

"गुणं, रीतिं, रसं, वृत्तिं, पाकं, शय्यामलङ्कृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः॥
सप्ताङ्गसङ्गतं राज्यं साम्राज्यमिव भासते।"[2]

चमत्कारयुक्त शब्द और अर्थ ही काव्य कहे जाते हैं—

"शब्दार्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः।"[3]

ध्वन्यालोककार ने इसी तत्त्व को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—**"काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः.........।"**[4] इस अर्थ की उन्होंने अङ्गनाओं के तत्तत् प्रसिद्ध अवयवों से पृथक् निर्वर्ण्यमान 'लावण्य' से तुलना की है—

---

१. स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।
सप्ताङ्गमुच्यते राज्यम्.........॥ (शुक्रनीतिः, १/६१)

२. **चमत्कारचन्द्रिका**, श्रीमती डॉ० पन्दिरि सरस्वती मोहन द्वारा सम्पादित, 'मेहरचन्द-लछमनदास, दिल्ली द्वारा प्रकाशित। सं० १९७२ पृ० २, ३

३. **वही**, पृ० ३

४. **ध्वन्यालोक**, प्रथम उद्योत।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥[१]

"यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ्निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृत तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः ।"[२] महाकवियों की वाणी इसी अलोकसामान्य प्रतिभाविशेष को स्फुरित किया करती है—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निस्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥[३]

आचार्य विश्वनाथ कविराज ने चमत्कार की परिभाषा करते हुए कहा है—"चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः । तत्प्राणत्वञ्चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्य-श्रीमन्नारायणपादैरुक्तम् । तदाह धर्मदत्तः—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वथाप्यद्भुतो रसः ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥"[४]

इस प्रकार अद्भुत को ही प्रधान रस मानने का आधार यह हुआ कि लोकोत्तर अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में ही हमारी चित्तवृत्ति का विस्तार होता है। यह विस्तार ही काव्यानन्द का अपना वैशिष्ट्य है। यही वह रमणीय अर्थ है जिसके कारण सामान्य शब्द और अर्थ मनोहर काव्य का रूप धारण करके आनन्द की विलक्षण सृष्टि करते हैं—

"यानेव शब्दान् वयमालपामो,
यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः ।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः
सम्मोहयन्तः कवयो जयन्ति ॥"

'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द'[५] को काव्य की संज्ञा इसी आधार पर दी गई है और 'आस्वादजीवातु पदसन्दर्भ' को काव्य भी इसी चमत्कार के कारण माना गया है।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि काव्यानन्द की अनुभूति में चमत्कार की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

चमत्कार के विषय में समीक्षकों की दो दृष्टियाँ स्पष्ट प्रतीत होती हैं। चमत्कार का एक रूप रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्यात्मभूत तत्त्वों का पर्याय है, दूसरे अलङ्कारों के लिए भी उसका प्रयोग किया गया है। पहले पक्ष में हृदय

१. वही, १/४
२. वही, १/४
३. वही, १/६
४. साहित्यदर्पणः, तृतीय परिच्छेद ।
५. पण्डितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर ।

की प्रधानता के कारण कोई विवाद ही नहीं है, दूसरे पक्ष में जहाँ अलंकार के रूप में उसे गृहीत किया गया है, वहाँ 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' होने के कारण वह स्वीकार्य है परन्तु काव्य के 'गड्डुभूत'[1] एकाक्षर-द्व्यक्षरप्रहेलिका आदि के रूप में जहाँ हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को चमत्कृत करने का साधन माना गया है, वहाँ वह मान्य नहीं है।[2]

चमत्कार के इसी सन्तुलन के आधार पर पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम एवं प्रधान भेद स्वीकार किये हैं।[3]

इस प्रकार काव्य में चमत्कार की स्थिति तीन प्रकार की मानी जा सकती है। पहली, जहाँ वह काव्यभूत तत्त्व का पर्याय है। दूसरी जहाँ वह काव्य-सौन्दर्य को उजागर करने के लिए प्रयुक्त होता है। तीसरी वह जिसमें उसकी इति-कर्तव्यता मस्तिष्क को चमत्कृत करने में ही है। यह स्थिति ही काव्यानन्द की बाधक है।

लोकोत्तर चमत्कार की सिद्धि के लिए ही कवियों एवं आचार्यों का आग्रह रहा है। जैसा कि कुन्तक ने कहा है—

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्य सिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥[4]

ध्यातव्य है कि काव्यानन्द एवं शास्त्रानन्द में बहुत अन्तर है—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥

तदयमभिप्रायः—योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादः प्रकृष्टपुरुषार्थतया सर्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धः सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणाचमत्कारकलामात्रस्य न कमपि साम्यकलनां

---

१. 'तदेतत् काव्यान्तर्गड्डुभूतमिति नास्य भेदलक्षणं कृतम्।' ......कष्टं काव्यमेतत्। (काव्यप्रकाश, ९/१२०)

२. रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा ।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्तु न गोचरः ॥
(ध्वन्यालोक, ३/४२/४३)

३. (क) शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम्।
(ख) यत्रव्यङ्ग्यचमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम्।
(ग) यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्।
(घ) यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्।
(रसगंगाधरः, प्रथम आनन)

४. वक्रोक्तिजीवित, १/२

कर्तुमर्हतीति। ....शास्त्रसन्दर्भस्तत्कालकल्पितकमनीयचमत्कृतेः काव्यस्य न कथञ्चिदपि स्पर्धामधिरोहतीत्येतदप्यर्थतोऽभिहितं भवति।

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आल्हाद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापहम्॥
आयत्यां च तदात्वे च रसनिस्यन्दसुन्दरम्॥[1]

काव्यानन्द एवं चमत्कार के कभी-कभी पर्यायवाची होने पर भी यह ध्यातव्य है कि काव्यानन्द साध्य है जबकि चमत्कार उसका साधन। काव्याङ्गों के वैभव से चमत्कृत होकर ही सहृदय काव्यानन्द का अनुभव करता है, अतः वह उसका उपाय या साधन है, साध्य नहीं। चमत्कार चिद्विशिष्ट है जबकि काव्यानन्द सत् चित्, आनन्द विशिष्ट।

१. वही, १/५

संस्कृत नाटकों में चमत्कार-तत्त्व

—डॉ० रमेश कुमार लौ

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से काव्य का आनन्द या काव्य का सारतत्त्व विषय की समीक्षा की है। परिणामस्वरूप रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदि अनेक काव्यशास्त्र के सम्प्रदाय विकसित हुए। काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी काव्यास्वादन में चमत्कार के पर्याप्त महत्व को स्वीकार किया है। इस विषय में दो लेख **मेरठ वि० वि० संस्कृत शोध पत्रिका** में ही प्रकाशित हो चुके हैं। [(द्रष्टव्य; 'रस सम्प्रदाय और चमत्कारतत्त्व, कु० मनोरमा गर्ग, अंक ३ भाग I, १९७८ पृष्ठ ७९ आदि) और 'काव्यात्मा की दृष्टि से चमत्कार विवेचन' —कु० मृदुला जोशी (अंक ६, १९८१, पृष्ठ ५१–५३)] विश्वनाथ ने **साहित्य-दर्पण** में रस का स्वरूप वर्णन करते हुए रस को 'लोकोत्तर-चमत्कार-प्राण' कहा है। वहीं उन्होंने अपने वृद्ध प्रपितामह नारायण के मत का भी उल्लेख किया है कि रस का सार चमत्कार है और इसी कारण अद्भुत रस ही एकमात्र रस है। विश्वनाथ ने विस्मय का ही दूसरा नाम चमत्कार माना है और इसका रूप चित्त का विस्तार कहा है। विश्वेश्वर कविचन्द्र ने **'चमत्कारचन्द्रिका'** में चमत्कारयुक्त शब्द और अर्थ को ही काव्य माना है। (**'वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः'**। विलास I पृ० ३) उन्होंने काव्य के प्रयोजन में भी चमत्कार का महत्त्व वर्णन किया है।

'नृणां विधौ निषेधे च शिक्षा काव्यप्रयोजनम्।
शिक्षा च सचमत्कारं चोदिता स्थिरतां भजेत्।' पृ० २

'आनन्दपरिवाहकृत्' चमत्कार के सात कारण वहाँ गिनाये गये हैं—गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या और अलंकार। चमत्कार के ही आधार पर उन्होंने उनका तीन श्रेणियों में विभाजन इस प्रकार किया है—

१. चमत्कारी—शब्द-प्रधान
२. चमत्कारितर—वाच्य प्रधान+गुणीभूत ध्वनि के ८ भेद।
३. चमत्कारितम—ध्वनिप्रधान (वि० ३, पृ० ७३))

काव्यशास्त्रीय विचार-सरणि से हटकर यदि मनोवैज्ञानिक पद्धति से ही सोचें तो भी इस धारणा की पुष्टि होती है कि जिस प्रकार लौकिक अनुभूतियों में विस्मय चित्तवृत्ति को एकाग्र कर आनन्द का अनुभव कराता है, उसी प्रकार काव्यजन्य आनन्द अलौकिक अनुभूतियों को अभिन्न रूप में आस्वादन-योग्य बना देता है। विस्मय से उद्भूत यह आस्वादन श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य द्वारा किया जाना सहज है क्योंकि वहाँ शब्द, अर्थ के साथ अभिनय भी सम्मिलित हो जाता है। मानव द्वारा भावाभिव्यक्ति की कला का नृत्त, नृत्य, नाट्य, रूपक इन चार अवस्थाओं में हुए विकास में मूल कारण मानव द्वारा चमत्कार-तत्त्व का उपयोग समझना चाहिये। (द्रष्टव्य Mankad—*'Development of Rūpaka*

pp. 29)। अभिनय द्वारा लोकचरित को प्रस्तुत करने की असीम सम्भावना ही स्वयं में चमत्कार का प्रवल कारण बन जाती है। अतःएव नाट्य के गौरव का बखान करते हुए कालिदास ने कहा है—

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्॥
(माल० १.४)

संस्कृत नाटक की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों ने जो अनेक कल्पनाप्रसूत मत प्रतिपादित किये हैं उनमें समन्वय-तन्तु 'चमत्कार' को माना जा सकता है। भारतीय परम्परा के अनुसार नाट्यशास्त्र पञ्चम वेद है; 'लोकवृत्तानुकरण' इसका प्रयोग है। पाश्चात्य विद्वानों ने यज्ञों में संवाद-सूक्तों का प्रयोग, वीरपूजा की भावना, ऋतु-परिवर्तन के उत्सव, पुत्तलिका नृत्य इत्यादि जो नाटक की उत्पत्ति के कारण माने हैं वे वास्तव में नाटक के विकास में उपयोगी विभिन्न उपकरण थे जो समय-समय पर ग्रहण किये जाते रहे होंगे। अवस्थानुकृति से जो स्वाभाविक चमत्कार उत्पन्न होता है वही नाटक की उत्पत्ति का मूलभूत कारण माना जाना चाहिये। संवाद, संगीत, नृत्य आदि नाटक में चमत्कार का ही पोषण करते हैं।

नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने नाटक में चमत्कार तत्त्व को निरन्तर बनाये रखने के लिये ही विस्तार से नाटक-रचना और प्रयोग के विविध अंगों और भेदों का निर्देश किया है। नाटक-प्रयोग के आरम्भ से अन्त तक यदि कौतूहल न बना रहा तो दर्शक विरस होकर रंग का परित्याग कर जायेंगे। अतः नाटककार और नटों को सावधानी से इन निर्देशों का पालन करना होता है। इसके लिये ही भरत ने विस्तार से रंग-निर्माण की विधि आदि का वर्णन किया है। कालक्रम में चमत्कार को ही लक्ष्य कर पूर्व रंग के अन्य अंगों को छोड़ दिया गया क्योंकि इन का विस्तार दर्शकों को उबाने वाला था। नान्दीपाठ, प्रस्तावना, अंक, अर्थोपक्षेपक, पताकास्थान, भरतवाक्य आदि नाटक के विभिन्न अंग, नाटककार द्वारा चमत्कार को बनाये रखने के लिये सूझ-बूझ के साथ रचे जाते हैं। इस लिये प्रस्तावना के लक्षण में सूत्रधार द्वारा **'चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः'** (सा० द० VI. 35) संवाद बोले जाने का संकेत दिया गया है। प्रस्तावना के अन्त में नाटक का आरम्भ भिन्न-भिन्न प्रकार से चमत्कारपूर्ण विधि से हो सकता है अतः इसके प्रयोगातिशयादि पाँच भेद बताये गये हैं। आधिकारिक के साथ प्रासंगिक वस्तु चमत्कार ही उत्पन्न करती है। इनके अन्तर्गत अनेक बार चमत्कार की वृद्धि हेतु ही नाटककार पताकास्थान का प्रयोग करता है। (द्रष्टव्य सा० द० VI. ४६.) **भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण में "वत्सराजः," अभिषेक में "रामेण" और वेणीसंहार** (II अंक) में **"देव भग्नं भग्नम्"** पताकास्थान द्वारा संवाद में चमत्कार उत्पन्न करने के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। पाँच अर्थ-प्रकृतियों से पाँच कार्यवि-

स्थाओं का संयोजन; पाँच सन्धियों के रूप में परिणत होकर वस्तु को चमत्कारमय कर उपसंहार तक ले जाता है।

संस्कृत नाटककारों ने वस्तु, नेता और भाषा की दृष्टि से अपनी रचनाओं में चमत्कार को कितना महत्त्व दिया है यह कुछ नाटकों के विहंगावलोकन से ही स्पष्ट हो जाता है। —

वस्तु—प्रख्यात और उत्पाद्य, दोनों प्रकार की कथाओं में घटना-संरचना, दृश्ययोजना, परिवर्तनादि द्वारा चमत्कार उत्पन्न होता है। कालिदास ने शाकुन्त-लोपाख्यान की कथा को मूल कथा में परिवर्तन कर कितना रमणीक बना दिया है यह सर्वविदित है। भास ने **कर्णभार, दूतवाक्य** और **ऊरुभंग** नाटकों में महाभारताश्रित वस्तु में प्रभावशाली मौलिक परिवर्तन किये हैं। भवभूति ने **महावीरचरितम्** में माल्यवान् और शूर्पणखा द्वारा परशुराम, बाली और मन्थरा को माध्यम बना कर षड्यन्त्र-रचना और **उत्तररामचरित** में छायासीता का प्रयोग, जनक-कौशल्या की भेंट, शम्बूक-वध, लव-चन्द्रकेतु का युद्ध, गर्भाङ्क नाटक और अन्त में राम-सीता का मिलन आदि घटनाओं को देकर रामकथा को बदला है। **मुद्राराक्षस** और **वेणीसंहार** में नाटककारों ने राजनैतिक दावपेंच और युद्ध की घटनाओं का ऐसा सुन्दर संयोजन किया है कि उनका नाट्यकौशल चमत्कारमय बन गया है। प्रख्यात वस्तु को भी इस प्रकार नये ढंग से प्रस्तुत कर देना कि दर्शक बार-बार नाटक देखना चाहें, यह नाटककार चमत्कार-तत्त्व द्वारा ही सम्भव बना देते हैं।

नाटककार वर्णन-कौशल से भी ऐसा चमत्कार उत्पन्न करते हैं कि दर्शकों में कौतूहल व्याप्त होता है। इससे नटों को दृश्य-संयोजन में भी भरपूर सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ **'स्वप्नवासवदत्तम्'** में तपोवन, **वेणीसंहार** में युद्धभूमि, **उत्तररामचरित** में पञ्चवटी, **महावीरचरित** में युद्ध और यात्रा, **मालतीमाधव** में श्मशान का वर्णन। श्रीहर्ष ने **रत्नावली** में जादू से चमत्कार की सुन्दर योजना की है।

नेता—विभिन्न पात्रों का समुचित प्रयोग और उनका सम्यक् चरित्र-चित्रण नाटक में चमत्कार उत्पन्न करता है। ऐतिहासिक पात्रों के चित्रण में भी कुशल नाटककार ऐसी छाप छोड़ते हैं कि वे उनके ही पात्र होकर रह जाते हैं। भास का उदयन श्रीहर्ष के उदयन से इसीलिये भिन्न प्रतीत होता है। कालिदास की शकुन्तला **महाभारत** की शकुन्तला की तुलना में सौम्य, सुन्दर और तेजस्विनी है। भवभूति ने राम और सीता के चरित्र में अनोखा अपनापन दिया है। भट्टनारायण ने दुर्योधन के व्यक्तित्व के उन पहलुओं को उजागर किया है जो जनसाधारण की धारणा से परे हैं। युगलपात्रों के चरित्र की विषमता भी आश्चर्य उत्पन्न करती है यथा **शाकुन्तल** में प्रियंवदा, अनसूया तथा शार्ङ्गरव और शारद्वत का चरित्र-चित्रण। दिव्यपात्रों का प्रवेश कराकर भी नाटककार यही लक्ष्य सिद्ध करते हैं, यथा **शाकुन्तल** में सानुमती और मातलि, **उत्तररामचरित** में तमसा और विद्याधर-

युगल, महावीरचरित में अलका और लंका, नागानन्द में विद्याधर, नाग और गरुड । अमूर्त पात्रों का सजीव चित्रण कृष्णमिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' में हुआ है।

भाषा—

मुख्य रूप से संवाद-योजना का प्रभावशाली होना ही नाटककार के चमत्कार को सिद्ध कर देता है। लघु, गतिशील वाक्य संवाद को पैनापन देते हैं। इस दृष्टि से भास, विशाखदत, भट्टनारायण का कौशल विशेषत: उल्लेखनीय है। तर्क-वितर्क के प्रभाव का मूल्याङ्कन करना हो तो शाकुन्तल के V अंक में राजा, मुनि और गौतमी के अथवा मुद्राराक्षस, III अंक में राजा और चाणक्य के कथनोपकथन का अध्ययन करना चाहिये। इसमें मुहावरेदार भाषा का प्रयोग सोने में सुहागे का काम करता है।

नाटककार द्वारा प्रसंगानुसार भाषा का सरल अथवा दुरूह प्रयोग, वैदर्भी या गौडी रीति का प्रयोग करना उसकी काव्य-प्रतिभा का परिचायक तो है ही, दृश्य में चमत्कार लाने में भी सहायक होता है। उदाहरणार्थ भवभूति ने वन की गहनता के वर्णन में जहाँ 'गुञ्जत्कुञ्जकुटीर……' (उत्तर II. २९) दीर्घ समासावलि का प्रयोग किया है वहीं सीता के वर्णन में "परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं" (III. 4) में सरल पदावली से चमत्कार का विस्तार किया है। जिन नाटककारों की भाषा में शब्दाडम्बर की प्रधानता है उनकी रचनायें लोकप्रिय नहीं हो पायी हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाटक के विकास में जिस प्रकार चमत्कार-तत्त्व का प्रमुख योगदान रहा है, नाटक द्वारा आनन्दानुभूति होने में भी चमत्कार ही मुख्य साधन है।

चमत्कार और काव्यानन्द

—डॉ० महेश भारतीय

संस्कृत-अलङ्कारशास्त्र में 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में देखने को आता है, प्रथम तो सामान्य रूप से 'काव्यास्वाद' के रूप में और दूसरे 'विस्मय' के रूप में। चमत्कार में 'चम्' धातु है जिसका अर्थ है खाना या पीना। डॉ० राघवन् की कल्पना है कि यह शब्द ध्वन्यात्मक है और मूलतः किसी स्वादिष्ट पदार्थ को चटकारे लेकर खाने के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा होगा, बाद में यह किसी आनन्दात्मक भाव के समय होने वाले स्फुरण के रूप में विकसित हो गया होगा।[1] अतः 'रस' शब्द की भाँति यह शब्द भी पाकशास्त्र से ग्रहण किया गया है और अपने मूल अर्थ आस्वाद' से यह 'काव्यास्वाद' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। संस्कृत के अधिकांश आलंकारिकों ने 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग इसी 'काव्यास्वाद' अर्थ में किया है। आनन्दवर्धन 'यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित् स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते' की वृत्ति में 'स्फुरितम्' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते'।[2] स्पष्टतः 'स्फुरण' शब्द का प्रयोग काव्य के रम्य स्थल से उत्पन्न आनन्द के लिये है और आनन्दवर्धन ने चमत्कार शब्द को उसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है। अभिनवगुप्त चमत्कार को अनन्यापेक्ष होकर अपने में ही विश्रान्ति मानते हैं। इसमें चित्त कहीं और न जाकर आत्मा में ही तल्लीन हो जाता है···भिन्न चित्तवृत्तियों के उदय रूप विघ्न समाप्त हो जाते हैं और एक अलौकिक आस्वाद उत्पन्न होता है। अभिनवगुप्त चमत्कार को 'रसनात्मा' अर्थात् आस्वाद स्वरूप मानते हैं।[3] वास्तव में मम्मट ने 'वेद्यान्तरसंस्पर्श-रहित अलौकिक आनन्द' रूप जो रस माना है, वही अभिनवगुप्त का चमत्कार है। अतः अभिनवगुप्त का 'चमत्कार' 'रस' का पर्याय ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ "**रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्द काव्यम**" कह कर काव्य की परिभाषा करते हैं और कहते हैं कि काव्य-भाषा के शब्द एक चमत्कारी आह्लाद प्रदान करते हैं जिसको अलौकिक कहा गया है। अलौकिकत्व की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं—

'लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः'

"और यह अलौकिकत्व आह्लादगत जातिविशेष है जिसका अनुभव द्वारा ही ज्ञान हो सकता है और जिसका दूसरा नाम चमत्कार है।"

स्पष्टतः पण्डितराज ने काव्य से उत्पन्न होने वाले अलौकिक आनन्द के लिये चमत्कार शब्द का प्रयोग किया है।

इस प्रकार संस्कृत-अलंकारशास्त्री प्रायः काव्य से उत्पन्न आनन्द के लिये चमत्कार शब्द का प्रयोग करते रहे हैं, यह आनन्द चाहे 'रस' रूप हो, चाहे अलंकार, गुण या वक्रोक्ति आदि अन्य किसी भी आलम्बन से प्राप्त। इसीलिये विश्वे-

श्वर कविचन्द्र **चमत्कारचन्द्रिका** में चमत्कारयुक्त वाणी तथा अर्थ को ही काव्य मानते हैं:—

वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः ।[४] और चमत्कार के सात आलम्बन मानते हैं—गुण, रीति, वृत्ति, पाक, शय्या, रस और अलंकार ।[५] स्पष्टतः वे चमत्कार को सामान्य रूप से काव्यानन्द के अर्थ में प्रयोग करते हैं—

'चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्' ।[६]

इस अर्थ में 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'Aesthetic pleasure' का पर्याय माना जा सकता है । इतना अवश्य है कि अंग्रेजी का Aesthetic pleasure काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि किसी भी आलम्बन से उत्पन्न आनन्द के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु संस्कृत के 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग काव्य के प्रसंग में ही हुआ है, अतः वह काव्यानन्द का वाचक है । यह काव्यानन्द आवश्यक रूप से 'रस' नहीं है । कोई भी ऐसी उक्ति जो आनन्द प्रदान करती है, चमत्कारी कही जाती है । मम्मट आदि अलंकारशास्त्री 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' नामक काव्य-भेद वहाँ स्वीकार करते हैं जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक 'चमत्कारी' होता है ।[७]

संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'चमत्कार' शब्द का दूसरा अर्थ 'विस्मय' प्राप्त होता है जिसका स्पष्ट कथन विश्वनाथ की निम्नलिखित उक्ति में है:—

"चमत्कारः चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः" ।[८]

'चमत्कार' का सामान्य काव्यास्वाद रूप अर्थ विस्मय रूप अर्थ में कैसे संकुचित हो गया यह एक अलग शोध का विषय है । यहाँ हम केवल इस बात पर विचार करेंगे कि चमत्कार का काव्यास्वाद के साथ क्या सम्बन्ध है ।

यदि चमत्कार के काव्यास्वाद रूप प्रथम अर्थ को ग्रहण किया जाय तो 'चमत्कार' और 'काव्यानन्द' पर्यायवाची शब्द बन जाते हैं और इनमें किसी सम्बन्ध की बात करना निरर्थक है । हाँ, वह चमत्कार या आनन्द काव्य-रचना के किस विशेष धर्म से उत्पन्न होता है, यह विचारणीय विषय हो सकता है । वास्तव में संस्कृत के रस, अलंकार, ध्वनि आदि सभी काव्य-सम्प्रदायों में इसी बात का विवेचन है और काव्य के किसी विशेष धर्म की ओर उनका अधिक रुझान दिखलाई पड़ता है । इन सभी सम्प्रदायों का समन्वय हमें प्राप्त होता है चमत्कारवादी विश्वेश्वर कविचन्द्र में, जहाँ, जैसा कि हम देख चुके हैं, रस, अलंकार आदि को चमत्कार का आलम्बन मान लिया गया है, और चमत्कार-युक्त शब्दार्थ को ही काव्य माना गया है ।

Imp

यदि चमत्कार के दूसरे अर्थ 'विस्मय' को ग्रहण किया जाता है तो चमत्कार का काव्यानन्द के साथ क्या सम्बन्ध है, यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय हो जाता है । वास्तव में यह 'विस्मय' रूप अर्थ ही वह अर्थ है जिसको बाद में ग्रहण

किया गया। हिन्दी काव्यशास्त्र में चमत्कार का प्रायः यही अर्थ ग्रहण किया जाता है।

संस्कृत के अलंकारशास्त्रियों में इस विस्मय-तत्त्व के प्रति प्रमुखतः दो प्रकार के दृष्टिकोण प्रतीत होते हैं। कुछ आलंकारिक विस्मय-तत्त्व को काव्य का प्रमुख तत्त्व मान कर चलते हैं और कुछ इसे हीन दृष्टि से देखते हैं। जो आलंकारिक अलंकार, वक्रोक्ति या रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं वे काव्य में प्रत्यक्षतः विस्मय-तत्त्व को प्रमुखता प्रदान करते हैं क्योंकि ये सभी तत्त्व विस्मय-जनक होने के कारण ही चमत्कारी बनते हैं। ध्वनि तथा रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आलंकारिक विस्मय-तत्त्व को हीन दृष्टि से देखते हैं। आनन्दवर्धन तथा विश्वनाथ 'चित्रकाव्य' को—जिसमें भावों की विवक्षा न होकर केवल अलंकारों या गुण की विवक्षा होती है—काव्य ही स्वीकार करने को तैयार नहीं।[९] मम्मट इसे काव्य तो मानते हैं किन्तु अधम काव्य मानते हैं।[१०] किन्तु संस्कृत-अलंकारशास्त्र में भी एक मत ऐसा था जो रस-वादी होते हुए भी विस्मय-तत्त्व को प्रमुखता देते हुए काव्य में सर्वत्र अद्भुत रस मानता था। विश्वनाथ ने 'धर्मदत्त' नामक किसी आलंकारिक को उद्धृत किया है जिसके अनुसार रस में चमत्कार ही सार है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।[११]

और इस कारण काव्य में सर्वत्र अद्भुत-रस की ही सत्ता होती है—

'तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।'[१२]

विश्वनाथ के प्रपितामह 'नारायण' केवल एक अद्भुत रस को ही रस मानते हैं:—

तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।[१३]

हिन्दी के आलोचक प्रायः विस्मय-तत्त्व को हीन दृष्टि से देखते हैं। चमत्कार के स्वरूप को समझाते हुए रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं:—"किसी वस्तु के वर्णन या किसी तथ्य के कथन में बुद्धि को दौड़ाकर यदि ऐसी वस्तु या प्रसंग की योजना की जाये जिसकी ओर प्रस्तुत वस्तु या प्रसंग के सम्बन्ध में श्रोता का ध्यान पहले कभी नहीं गया हो और जो इस कारण बिल्कुल नया या विलक्षण लगे तो एक प्रकार का कुतूहल उत्पन्न होगा, यही कुतूहल उत्पन्न करना चमत्कार का उद्देश्य है।"[१४] आचार्य शुक्ल भावों से रहित केवल चमत्कार उत्पन्न करने वाली उक्तियों को 'काव्याभास' की संज्ञा प्रदान करते हैं। उनके अनुसार जिसमें भावों का पता देने वाला अथवा भाव उत्पन्न कराने में समर्थ अप्रस्तुत वस्तु का व्यापार न हो, केवल दूर की सूझ या शब्द-साम्य मूलक विलक्षणता हो वह उक्ति काव्याभास होगी।[१५] डॉ० नगेन्द्र भी भाव-रहित केवल चमत्कारोत्पादक रचना को गर्हा की दृष्टि से देखते हैं और उसकी तुलना सरकस से करते हैं। इसीलिये जासूसी उपन्यासों को काव्य की कोटि में रखना उनकी दृष्टि से अनुचित है।

प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के मत में चमत्कार या विस्मय-तत्त्व न केवल अनुपेक्षणीय है, अपितु काव्य का एक प्रमुख तत्त्व है। इस विषय में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं:—

(१) जो लोग भाव-रहित केवल विस्मयोत्पादक रचना को काव्य मानने को तैयार नहीं, उनसे पूछा जाना चाहिये कि क्या 'विस्मय' अपने आप में एक भाव नहीं है? विस्मय को अद्भुत रस का स्थायी भाव माना गया है, अतः शास्त्रीय दृष्टि से यह प्रमुख भावों में एक भाव है। चित्रकाव्यात्मक रचनाओं का उद्देश्य 'विस्मय' को व्यञ्जित करना होता है, अतः यहाँ भाव-व्यञ्जना ही प्रमुख होती है। इस दृष्टि से इस प्रकार के काव्य को किसी प्रकार उपेक्षणीय या गर्हित नहीं कहा जा सकता।

(२) 'विस्मय' का भाव रति आदि अन्य भावों से कम मूलभूत नहीं कहा जा सकता। यह बात इस तथ्य से पुष्ट होती है कि बच्चे प्रायः शृंगार आदि भावों से युक्त रचनाओं में आनन्द नहीं ले पाते किन्तु रहस्य-रोमाञ्च को उत्पन्न करने वाली रचनाओं में आनन्द लेते हैं।

(३) काव्य दो प्रकार के दिखलाई पड़ते हैं—प्रबन्धकाव्य एवं मुक्तक काव्य। संस्कृत-काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'रस' का जो स्वरूप माना गया है—वेद्यान्तरसंस्पर्श रहित अलौकिक आनन्दमय—वह केवल प्रबन्धकाव्य में ही सम्भव है। प्रबन्धकाव्य में ही वह स्थिति आती है कि सामाजिक सब कुछ भूल कर कथा-प्रवाह में डूब जाता है। आचार्य शुक्ल भी रस की स्थिति को प्रबन्धकाव्य में ही मानते हैं, मुक्तक में तो वे केवल रस के छींटे ही मानते हैं। शुक्ल जी के 'रस के छींटे' की व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं मुक्तक काव्य में भाव केवल 'भाव' की स्थिति तक ही रहता है, 'रस' की स्थिति तक नहीं पहुंच पाता। रस की स्थिति केवल प्रबन्ध काव्य में ही आ पाती है। वास्तव में 'रस' का प्रतिपादन मूलतः नाटक के प्रसंग में ही किया गया है जहाँ कथासूत्र विद्यमान रहता है। **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'**—भरत के इस सूत्र में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी आदि की सम्मिलित स्थिति एक कथासूत्र को मान कर चल रही है। जहाँ ये सब नहीं होते वहाँ केवल भाव हो सकता है, रस नहीं। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रबन्धकाव्य में वह कौन सी नयी बात आ जाती है जिसके कारण 'रस' की स्थिति—वेद्यान्तसंस्पर्शरहित, सब कुछ भूल कर डूब जाने की स्थिति—उसी में आती है, मुक्तक रचना में नहीं। इसका एक ही उत्तर है—प्रबन्धकाव्य में कथा-प्रवाह होता है जिसमें मनुष्य की मनोवृत्तियों को बाँधने वाला तत्त्व 'कुतूहल' विद्यमान होता है। 'कुतूहल' को विस्मय का ही पूर्वरूप माना जा सकता है। इस तत्त्व का मुक्तक काव्य में अभाव होता है, अतः वहाँ मनोवृत्तियाँ बँध कर एकाग्र नहीं हो पातीं। दूसरे शब्दों में वहाँ 'रस' की स्थिति नहीं आने पाती। धर्मदत्त जब काव्य में सर्वत्र अद्भुत रस मानता है तो

सम्भवतः इसीलिये कि यह कुतूहल-भाव सर्वत्र विद्यमान रहता है। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो नारायण का यह मत ठीक ही लगता है कि केवल अद्भुत ही एक रस होता है। वास्तव में कुतूहल-तत्त्व ही वह तत्त्व है जो काव्य में अन्य सब भावों को एकसूत्रता में बाँधता है। इस दृष्टि से अन्य भाव गौण हो जाते हैं और कुतूहल-भाव सर्वत्र व्याप्त रहने के कारण प्रमुख या अङ्गी होता है और यही भाव 'रस' की स्थिति को उत्पन्न करता है।

(४) काव्य के दूसरे रूप 'मुक्तक' को यदि हम लें तो देखेंगे कि इसमें यद्यपि 'रस' जैसी डुबाने वाली स्थिति नहीं होती किन्तु प्रायः दो प्रकार की स्थितियों के कारण यह प्रशंसनीय होता है—प्रथम तो भावों की घनीभूत व्यञ्जना के कारण और दूसरे किसी प्रकार की विलक्षण उक्ति के कारण। विलक्षण उक्ति वाले काव्य में तो स्पष्टतः चमत्कार या विस्मय ही मुख्य-तत्त्व होता है। मुक्तक-काव्य का काफी बड़ा साहित्य चमत्कारोक्ति के कारण ही काव्य-वाङ्मय में अपना स्थान बनाये हुए है और वाह-वाही को प्राप्त करता है। कवि-सम्मेलनों में केवल भावाभिभूत रचनाओं को इतनी वाहवाही नहीं मिलती जितनी चमत्कारोत्पादक उक्तियों को। 'क्या बात कही है" में अधिकांशतः प्रशंसा इसी चमत्कार की होती है। जिन रचनाओं में भावों की घनीभूत व्यञ्जना होती है वहाँ भी कथन-प्रकार—अभिव्यञ्ना, और उस अभिव्यञ्ना में चमत्कार-तत्त्व—कम महत्वपूर्ण नहीं होता। एक उदाहरण लीजिये:—

"अब मेरे लिये गम और ख़ुशी
दो लब्ज़ हैं वो भी बेमाने
हँसने पे कभी रो देता हूँ,
रोने पे हँसी आ जाती है।"

इसमें कारुण्य की मार्मिक व्यञ्जना है। किन्तु यहाँ मार्मिकता केवल कारुण्य के कारण नहीं, इस विरोधमूलक उक्ति के कारण है कि 'हँसने पे रो देता हूँ और रोने पर हँस देता हूँ।' इस विरोधाभास के मूल रूप में क्या चमत्कार नहीं है ?

इस सब कुछ कहने का उद्देश्य यह नहीं है कि काव्य में अन्य बातों का महत्त्व नहीं है। भावों का अपना महत्त्व है और वही मार्मिकता उत्पन्न करते हैं किन्तु प्रस्तुत लेख का उद्देश्य यह दिखलाना है कि प्रथमतः तो विस्मय भी एक भाव है अतः अन्य भावों से पीछे नहीं, दूसरे अन्य भाव रूपी पुष्पों को गूँथने का काम विस्मय ही करता है, अतः अन्य भावों को रस की स्थिति तक लाने का काम यही भाव करता है, और तीसरे भावों की अभिव्यक्ति में 'अभिव्यक्ति-प्रकार' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिसमें अनिवार्यतः चमत्कार तत्त्व का आश्रय लिया जाता है।

टिप्पणी

१. Some Concepts of Alaiṅkārāsāsurā, p. 268

२. ध्वन्यालोकः (सं० के० कृष्णामूर्ति, मोतीलाल बनारसीदास), पृ० २०६

३. चमत्कारो हि इति स्वात्मन्यनन्यापेक्षे विश्रमणम् । चमद् इति क्रियाविशेषणम्, अखण्ड एव वा शब्दो निर्विघ्नास्वादनवृत्तिः । चमद् इति वा अन्तरस्पन्दान्दोलनोदितपरामर्शमयाशब्दाव्यक्तानुकरणम् । काव्यनाट्यरसादावपि भाविचित्तवृत्त्यन्तरोदयनियमात्मकविघ्नविरहित एवास्वादो रसनात्मा चमत्कारः··· ।

४. चमत्कारचन्द्रिका, प्रथम अध्याय, पृ० ३

५. वही पृ० २

६. वही

७. द्रष्टव्य मम्मट द्वारा दिया गया गुणीभूत व्यङ्ग्य का यह उदाहरण—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ।।

और इस पर वृत्ति—"अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ।

८. साहित्यदर्पण, अध्याय ३ काव्यप्रकाश, १, ३

९. "न तन्मुख्यं काव्यं काव्यानुकारो ह्यसौ ।" ध्वन्यालोक, अध्याय ३ । यदि हि अव्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्ति । —साहित्यदर्पण, अध्याय ३

१०. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् । काव्यप्रकाश, अध्याय १

११. साहित्यदर्पण, अध्याय ३

१२. वही

१३. वही

१४. जायसी ग्रंथावली, पृ० १६२

१५. वही